श्लोक—तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात् ॥
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥ ४२ ॥

मूलार्थ—फिर भी उनही तुम दोनों के मैं कश्यप से अदिति में उत्पन्न हुआ (दूसरे जन्म में तुम अदिति थी और वसुदेव कश्यप थे) उस समय (उपेन्द्र) इस नाम से मैं विख्यात था और शरीर ठिगना होने के कारण मुझे वामन भी कहते थे ॥ ४२ ॥

श्री सुबोधिनी—अपवर्गस्याप्रार्थितत्वात् पुनर्जन्मान्तरं जातं तस्मिन्नपि जन्मनि तयोस्तुल्यत्वात् पुनरहं पुत्रो जात इत्याह तयोर्वामिति, तयोरेव युवयोः पुनरेवाहं स्वसदृशमदृष्ट्वा पुनरेवाहं जातः, तयोर्जन्मान्तरेऽदितिकश्यपत्व, तदाहादित्यामास कश्यपादिति, यद्यप्यत्रादितिगर्भ इति वक्तव्यं तथाप्युपेन्द्र इत्येव लोके विख्यातः, नामान्तरप्रसिद्धो हेतुमाह वामनत्वादिति, द्वितीये जन्मनि नामद्वयमुपेन्द्रो वामन इति ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ—अतः सर्वथा सर्वांश में भिन्न नहीं, असत् की सत्ता मानी नहीं जाती, इस कारण लोक में अपने समान अन्य को न देखकर मैं ही स्वयं तुम्हारा सुत हुआ, यद्यपि रूप की समानता कृत्रिम+ वस्तु में की जा सकती है परन्तु शील, उदारता, आदि गुण तो उसमें उत्पन्न नहीं किये जा सकते, वह तो आत्मा (भगवान्) के अन्तः करण में रहने वाले हैं, उन अलौकिक उदारतादि गुणों का उत्पादन नहीं हो सकता, अतः निज गुणों से सर्वथा विशिष्ट*अथवा अंशतः मिलित किसी अन्य का दर्शन ही नहीं हुआ,

श्लोक–तृतीयऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषा युवाम् ॥
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥ ४३ ॥

मूलार्थ—हे सति उसके अनन्तर तुम्हारे इस तीसरे जन्म में उस पूर्वदर्शित शरीर से ही मैं तुम दोनों के प्रकट हुआ हूँ, मेरा कहा वचन सत्य ही होता है ॥ ४३ ॥

टिप्पण— लेखकार ने (कृत्रिम) शब्द का (अंश) अर्थ माना है, अर्थात् भगवान् के अंशावतारों में चतुर्भुज आदि आकार एवं श्यामलत्वादि रूप का साम्य सम्भावित है।

टिप्पण—*विशिष्ट और मिलित के विवेचन को श्री लेखकार इस प्रकार किया है कि भगवान् के अलौकिक शील उदारतादि गुणों के समान लौकिक शील उदारता आदि गुणों से युक्त होना 'विशिष्ट' होना है, एवं भगवन्निष्ठ अलौकिक गुणों से भी युक्त होना 'मिलित होना' है।

इनके व्याख्यान का आशय यह है कि इस श्लोक में 'अन्यतमम्' 'अदृष्ट्वा' यह पृथक् वाक्य है, और 'शीलौदार्यगुणैः समम्' अदृष्ट्वा, यह भिन्न वाक्य हैं क्योंकि जब अन्यतम 'भिन्न' कोई है ही नहीं तो उसमें शील उदारतादि से समानता का आपादान करना अशक्य है,

इस कारण मैं ही तुम दोनों का पुत्र हुआ, दोनों में क्रम से प्रकट हुआ, प्रथम सुतपा के मन में तत्पश्चात् प्रश्नि के हृदय में उदित हुआ, श्रुति ने परमात्मा के पुत्रादि भाव से प्रकट होने का प्रतिपादन किया है कि वह एक प्रकार से होता है, दश प्रकार से होता है, इन प्रकारों में पुत्र रूप से होना भी एक प्रकार है, अतः भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में कोई विरोध नहीं, जन्म की मुख्यता को लेकर ही (प्रश्नि गर्भ) इस जन्म सूचक नाम से ही लोक में प्रसिद्धि बतलाई है, (स्मृतः) इस पद से इस प्रसङ्ग को प्रामाणिकता सूचित की है ॥ ४१ ॥

श्री सुबोधिनी—पुनस्तृतीयं जन्म तयोर्जातं, तत्राप्यहमेव पुत्रो जात इत्याह तृतीयेऽस्मिन्निति, अयं परिदृश्यमानो भवस्तृतीयो भवति, अत्रापि नामद्वयं मुख्यं, तृतीयस्थाने बहूनि, देवकीनन्दन इति च मुख्यं, तदग्रे वक्ष्यामः, पूर्वयोर्भवयो रूपभेदोऽस्ति तृतीये तु जन्मनि तेनैव प्रसन्नेनैव वपुषा तयोरेव भूयो जातः, एवं वारत्रयभवने हेतुमाह सत्यं मे व्याहृतमिति, यदि कस्मिन्नपि जन्मनि वरानन्तरभाव्ये भगवान् पुत्रो न भवेत् तदा वाक्यमसत्यं स्यात्, पूर्वदेहस्य त्यक्तत्वात् तत्पुत्रो न पुत्रो भवति,

व्याख्यार्थ—मोक्ष के न मांगने के कारण उनका पुनः जन्मान्तर हुआ, उस जन्म में भी वह दोनों पूर्व समान ही थे इसलिये मैं ही उनका पुत्र हुआ इस बात को (तयोर्वाम्) इस श्लोक से कहते हैं, उन्हीं तुम दोनों के फिर भी मैं ही हुआ, अपने सदृश को न देखकर फिर भी मैं ही हुआ, उन प्रश्नि, सुतपा, ओं को जन्मान्तर में (अदिति) (कश्यप) इस नाम से कहा गया इस बात को कहते हैं कि अदिति में कश्यप से मैं उत्पन्न हुआ, यद्यपि इस जन्म में (प्रश्नि गर्भ) की भांति (अदिति गर्भ) ऐसा नाम आवश्यक है तो भी लोक में (उपेन्द्र) नाम से विख्यात हुआ, (वामन) इस दूसरे नाम को प्रसिद्धि का कारण मेरा वामन (ठिगना) होना था दूसरे जन्म में दो ही नाम थे (उपेन्द्र) और (वामन) ॥ ४२)

व्याख्यार्थ—फिर तृतीय जन्म उनका हुआ, उस जन्म में भी मैं ही पुत्र हुआ इस बात को इस श्लोक से कहते हैं, यह दीखने वाला जन्म तृतीय जन्म है, इसमें दो नाम मुख्य हैं (कृष्ण) और (वासुदेव) तृतीय जन्म में तीन नाम तो होने ही चाहिये अतः तृतीय नाम के स्थान पर मुख्य (देवकी नन्दन) यह नाम है उसे आगे बतलायेंगे, और भी बहुतेरे नाम तृतीय नाम के स्थान पर हैं, प्रथम दो जन्मों में रूप का भेद था इस तृतीय जन्म में तो उसी प्रसन्न शरीर से उन्हीं माता पिताओं के पुनः प्रकट हुए, इस प्रकार तीन बार जन्म ग्रहण करने का कारण बतलाते हैं कि मेरा कथन सत्य होता है यदि वरदान के अनन्तर होने वाले किसी भी जन्म में भगवान् पुत्र नहीं होते तो उनका कथन मिथ्या हो जाता क्योंकि पूर्व जन्म का शरीर तो छोड़ दिया था अतः पूर्व जन्म का पुत्र पुत्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस प्रकार का व्यवहार भी नहीं है और उसमें प्रमाण भी नहीं है, पूर्व जन्म के पुत्र से पुत्रवान् कोई नहीं होता, अतः जन्मान्तर होने पर पुत्र रूप से प्रकट होना आवश्यक है, इसके पश्चात् तो अब तुम लोगों का जन्म नहीं होगा तो मेरा पुत्र रूप से प्राकट्य भी नहीं होगा, (सति) ! यह सम्बोधन सम्मान का सूचक है पतिव्रता वह ही होती है जो कल्प के प्रारम्भ में जिस पति को प्राप्त करे कल्पान्त तक यदि प्रत्येक जन्म में उसी पति को पति रूप से प्राप्त करती रहे, उस पतिव्रता के धर्मों को शास्त्र में—

श्री सुबोधिनी—व्यवहाराभावात् प्रमाणाभावाच्च, अतः पुनर्जन्मान्तरे पुत्रत्वेन भाव्यं, अग्रे तु जन्माभावात् पुत्रत्वाभावः, सतीतिसम्बोधनं सम्माननार्थं, सैव पतिव्रता भवति या कल्पादौ यं पतिं प्राप्नोति कल्पान्तपर्यन्तं सर्वजन्मसु तमेव चेत् प्राप्नोति, तस्याश्च पुनर्धर्मा अभिज्ञानं च शास्त्रे निरूपितं, "या प्रथमं न म्रियते मृते म्रियेत तादृशी त्वमिति ज्ञापयति मोक्षार्थं, व्यभिचारिण्याः स्त्रियास्तु न मुक्तिः, अतः सर्वदोषपरिहारार्थं सतीतिसम्बोधनमन्ते निरूपितम् ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ—बतलाया है, और उसकी पहचान भी कही है, कि जो पति से पूर्व मृत्यु को प्राप्त न करे उसके मरण होने पर ही मृत्यु को प्राप्त हो, वैसी पतिव्रता तुम हो ऐसा श्री देवकी को बतलाते हैं जिससे उनके मोक्ष की सूचना देते हैं, व्यभिचारिणि स्त्री को मुक्ति नहीं होती, अतः सर्व दोषों के परिहार करने को (सति) । यह सम्बाधन अन्त में कहा ॥ ४३ ॥

श्लोक—एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ॥
नान्यथा+ मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जन्यते ॥ ४४ ॥

मूलार्थ—पूर्व जन्मों का स्मरण कराने को मैंने यह रूप तुम दोनों को दिखाया है, यदि ऐसा नहीं करता तो मनुष्य शरीर में मेरा ज्ञान न हो पाता ॥ ४४ ॥

श्री सुबोधिनी—एवं पुत्रत्वे हेतुमुक्त्वा तादृग्रूपेणाविर्भावे हेतुमाहैतदिति, वां युवयोरर्थं एतत् पूर्वानुभूतं रूपं दर्शितं, सम्बन्धिदर्शने सम्बन्धिनः संस्कार उद्बुद्धो भवति, एतद्विषयको लुप्तोऽपि संस्कारश्चोद्बुद्धो भवति, सान्निध्यात् सर्वज्ञतायां तु वैराग्यं स्यात्, तदाविहितभक्तिरसो नानूभूयेत, रूपेण तदुद्बोधने तु तत्कालमात्रस्यैव स्मरणं वाक्याज् ज्ञानं तु प्रत्यक्षाद् दुर्बलमिति न काप्यनुपपत्तिः, प्राग् जन्मनोः प्रथमजन्मन एव वा स्मरणाय, एतावता क्लेशेनायं भगवान् पुत्रो जात इति, केवलवाक्ये तु भगवतो माहात्म्यमुच्यामान शास्त्रार्थ

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पूत्र होने में कारण का निर्देश कर चतुर्भुज आदि रूप से प्रकट होने में कारण को बतलाते हैं, कि यह पूर्व में जिसका अनुभव आप लोगों को हो चुका है वह चतुर्भुज स्वरूप तुम दोनों के लिये दिखलाया है, क्योंकि ऐसा स्वाभाविक नियम है कि किसी एक सम्बन्धी पदार्थ के देखने से उसके सम्बन्धी अन्य पदार्थ के विषय में संस्कार जाग उठता है, और इस दिखने वाले पदार्थ के विषय में लुप्त हुआ भी संस्कार पुनः जागरित हो जाता है, यद्यपि मेरे समीप होने मात्र से सर्वज्ञता होने पर भी पूर्व जन्म का प्रत्यक्ष सम्भव था परन्तु उस सर्वज्ञता में तो

टिप्पण – +उक्त श्लोक (४४) में (अन्यथा के स्थान पर (नान्यथा) ऐसा पाठ प्रायः सर्वत्र उपलब्ध होता है, आचार्यों ने (मर्त्यलिङ्गे) यह सप्तम्यन्त पाठ माना है, और (न) यह पृथक् पद माना है, (अन्यथा मर्त्यं लिङ्गे न जायते) इस प्रकार योजना की है (नान्यथा) ऐसा पाठ मानने पर (मर्त्यलिङ्गेन) यह तृतीयान्त पाठ मानना पड़ता है, यद्यपि विवक्षा के अनुसार (करण) और अधिकरण दोनों ही कारकों का (जायते) क्रिया में अन्वित होना सम्भावित है परन्तु मुख्यतया विषय की आधार रूपता ही स्वीकार की है, कारणता भी संभावित है परन्तु करणता तो विवक्षा के आधीन ही है,

वैराग्य की सम्भावना थी, वैराग्य होने पर अविहित पुष्टि) भक्ति रस का अनुभव नहीं होता, और इस रूप के दर्शन से पूर्व संस्कार के जागरित करने पर तो पूर्व काल में जैसा अनुभव हुआ है वैसा स्मरण आप लोगों को हो गया इसमें भक्तिरस प्रतिबन्धक वैराग्य की कोई सम्भावना हो नहीं, वाक्य से (यह भगवान् है) ऐसा ज्ञान तों प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल है अतः कोई भी किसी प्रकार की आशङ्का नहीं—

श्री सुबोधिनी— पर स्यात्, तदाह, अन्यथा रूपप्रदर्शनव्यतिरेके केवलमुच्यमाने मर्त्यलिङ्गे रूपे मानुषशरीरे मद्भवं ज्ञानं न जायते साक्षाद्भगवानयमिति, प्रदर्शिते तु रूप उच्यमानं ज्ञानमनुभवारूढं भवति ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—रह जाती, (बात ऐसी है कि भगवान् को इस स्वरूप के दर्शन से श्री देवकी वसुदेवों को मोहित करना भी अभीष्ट है जिससे लीला रस का अनुभव इन्हें होता रहे, सान्निध्य से सर्वज्ञता होने के कारण भगवत्स्वरूप के मार्मिक परिचय पूर्ण स्तोत्र इन दोनों ने किये फिर भी भय इन लोगों का निवृत्त नहीं हुआ भय की निवृत्ति के लिये प्रार्थना अन्त में दोनों ने की ऐसी दशा में स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान् अपनी इच्छानुसार मोह भी उत्पन्न करते हैं और ज्ञान का भी प्रकाश करते रहते हैं, जिसके उनकी विचारित लीला यथोचित रूप से सम्पन्न होती रहती है) उक्त रूप का दर्शन प्रथम के दोनों जन्मों के अथवा प्रथम के एक ही जन्म के स्मरण दिलाने का भगवान् ने इन्हें कराया है, जिससे इन्हें यह विदित हो जावै कि इतने परिश्रम से यह भगवान् पुत्र रूप से प्रकट हुए है, केवल वाक्य मात्र कहने पर तो भगवान् का माहात्म्य कहा हुआ भी अनुभव बिना शास्त्र वेद्य ही रहता (अतः शास्त्र और अनुभव दोनों के परस्पर में संवाद कराने को उनका मेल मिलाने को स्वरूप दर्शन कराया है) इसी बात को (अन्यथा) इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं कि अन्यथा रूप दर्शन के अभाव में केवल कहने पर कि मैं भगवान् हूँ मर्त्यलिङ्ग रूप में सर्व साधारण मनुष्य शरीर में (यह साक्षाद् भगवान् है, ऐसा करा देने पर तो कहा हुआ ज्ञान अनुभवारूढ हो जाता है हृदय से मिलान मिल जाती है ॥ ४४ ॥

श्लोक—युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ॥
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गति पराम् ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ—तुम दोनों पुत्र भाव से अथवा ब्रह्म भाव से बार बार मेरा चिन्तन करते स्नेह करने से मेरी परागति (व्यापि वैकुण्ठ) को प्राप्त करोगे ॥ ४५ ॥

श्री सुबोधिनी - अधना तु अप्रार्थितेऽप्यपवर्गे मुक्तिर्भविष्यतीत्याह युवामिति, प्रमेयबलस्य प्रकटीकृतत्वाच्छास्त्रस्य गौणत्वादविहितस्नेहेन पुत्रभावेन विहितस्नेहेन ब्रह्मभावेन वा विषयस्य तुल्यत्वात् प्रकारस्याप्रयोजकत्वाद् यथाकथञ्चिन्मयि कृतस्नेहौ परां मद्गतिं व्यापिवैकुण्ठाख्यां यास्येथे 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोऽधिकस्नेह'स्य तुल्यत्वात्, अत एव भगवान् गोपिकादीनामपि माहात्म्यज्ञानमुत्पादयिष्यति, अन्यथा बोधांशोऽधिकः स्यात्, भक्तानां प्रपञ्चाभावस्य निरोधत्वात्, अत एव पूर्वस्कन्धे उत्पत्तिनिरूपणेन स्वरूपत एव भक्ता निरूपिताः,

व्याख्यार्थ—इस समय तो मोक्ष के न मांगने पर भी मोक्ष हागा ऐसा कहते हैं कि तुम दोनों स्नेह के द्वारा परम गति को प्राप्त हो जावोगे, क्योंकि इस समय प्रमेय बल प्रकट किया है वस्तुशक्ति को ही प्रधानता दी गई है, शास्त्र की इस समय प्रधानता नहीं गौणता है अप्रधानता है, इस कारण शास्त्र में जिसका कर्त्तव्य रूप से वर्णन नहीं उस अविहित भक्ति स्नेह के द्वारा पुत्र भाव से अथवा शास्त्र में जिसका कर्त्तव्य रूप से वर्णन है उस विहित भक्ति स्नेह के द्वारा ब्रह्म भाव से किसी भी प्रकार से मुझ में स्नेह करने पर व्यापि वैकुण्ठ नाम वाली मेरी परागति को प्राप्त हो जावोगे, बात यह है कि स्नेह का विषय तो समान ही रहेगा पुत्र भाव से स्नेह का विषय भी मैं ही रहूँगा और ब्रह्म भाव से भी स्नेह का विषय मैं ही रहूँगा, स्नेह के प्रकारों में अवश्य भेद है, (पुत्र भाव प्रयुक्त स्नेह,) या (ब्रह्म भाव प्रयुक्त स्नेह) परन्तु परम गति रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये अमुक भेद ही उपयुक्त है ऐसी बात नहीं है, यथा कथञ्चित् मुझ में स्नेह करना ही आवश्यक है उसके द्वारा परमगति प्राप्त हो ही जावेंगी, बिना मांगे ही मुक्ति हो ही जावेंगी, नित्य लीला प्रवेश ही यहां पर मुक्ति पदार्थ है प्रकार भेद होते हुए भी स्नेह मात्र से समान फल या एक ही फल की सिद्धि इसलिये असम्भावित नहीं कि उक्त फल के प्रति जिस स्नेह को कारण बतलाया है वह माहात्म्य ज्ञान पूर्वक (सुदृढ) एवं सब से अधिक होना चाहिये उसमें ब्रह्म रूप से या पुत्र रूप से होने के प्रकार विशेष का निर्देश नहीं है, माहात्म्य ज्ञान आप लोगों को हो चुका है, अब तो स्नेह मात्र से ही कार्य सिद्धि है, वह स्नेह पुत्र भाव से हो या ब्रह्म भाव से हो, दोनों प्रकारों में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृड सर्वतोऽधिक स्नेह तो तुल्य ही है, स्नेह में माहात्म्य ज्ञान की आवश्यकता है तभी तो श्री गोपी जनों को भी माहात्म्य ज्ञान का उदय आगे कराया जावैगा, यदि स्नेह में माहात्म्य ज्ञान अपेक्षित नहीं रहता तो इस दशम स्कन्ध में ज्ञान की चर्चा अनावश्यक समझी जाती क्योंकि इसमें तो निरोध प्रतिपाद्य है, और भक्तों के प्रपञ्च की निवृत्ति या अभाव हो निरोध कहलाता है, उक्त निरोध की सिद्धि भगवान् को मधुर लीलाओं से सम्पन्न हो सकती है फिर उद्धवजी के द्वारा ज्ञान का प्रसङ्ग दशम स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोध में समावेश पाने के योग्य न होकर—

श्री सुबोधिनी—प्रेमज्ञानं निरोधश्च यथैव भवति तदत्रैव वक्ष्यते, आधिकमत्र नोच्यत इति 'मां गोकुले नय तत्र स्थापयित्वा तत्रत्यां कन्यामत्रानये'ति मुखतो नोक्तं, एतदुक्त्वैव पश्चात् तूष्णीं जात इति ज्ञातव्यं,

व्याख्यार्थ—अपनी अधिकता यो या अनुपयुक्तता को झलकायेगा, या स्पष्ठ बतलायेगा, भक्ति में (बोध) अंश भी अपेक्षित है इसलिये दशम निरोध स्कन्ध से पूर्व नवम स्कन्ध में उत्पत्ति के निरूपण से भक्तों के स्वरूप का ही निरूपण किया है उन भक्तों को प्रेम, ज्ञान, निरोध जिस प्रक्रिया से होते हैं वह इस दशम स्कन्ध में ही कहेंगे, जो बात बिना कहे ही प्रतीत होती है उसके लिये शब्द प्रयोग की आवश्यकता नही, अतः हमको गोकुल ले चलिये वहां पधराकर वहां से कन्या को ले आईये, इस बात को मुख से नहीं कहा (प्रेरणा मात्र को) ऐसा कहकर ही चुप हो गये ऐसा समझना चाहिये—

श्री सुबोधिनी—एभिर्वचनैर्भगवता वसुदेवदेवक्योः स्वावतारात् पूर्वं तदनन्तरं च दुःखप्राप्तौ हेतुरपि निरूपित इति ज्ञेयं, तथा हि 'मत्तः कामानभीप्सन्ता'वितिवाक्यात् तदर्थमेव भगवदाराधनं पूर्वं कृतं न तु भगवदर्थं, तस्य चानि-

ष्फलत्वाद्धर्याविर्भावे सौन्दर्यं दृष्ट्वा तादृशः सुतो वृतो न तु स्नेहेनार्त्या प्रभुप्राकट्यं वृतं, अत एव 'वरं मत्सदृश' मित्यादिना स्वप्राप्त्यनन्तरमपि 'ग्राम्यभोग' भोजनमेवोक्तं, एवं सति स्वसाम्यमन्यत्रादृष्ट्वा स्वस्यैव तथाविर्भावने प्रभोर्निर्बन्धोऽभूत्, मुक्तानामि दुरापस्य स्वरूपस्याल्पार्थे प्रकटीकरणमापतितं यतः, 'अदृष्ट्वाऽन्यतम' मितिवाक्येनायमेवार्थो ज्ञापितः प्रभुणा, अतोऽधुना प्रभुप्राकट्यनिमित्तकः कंसकृतो निर्बन्धोऽभूत्, पुत्रत्वे निर्बन्धात् कीर्तिमदादिपुत्रनाशोऽपि, साम्ये निर्बन्धाद् गुणैस्तत्सम्भवाद् गुणसममङ्ख्यानां तेषां तथा, मर्यादारक्षायै तद्दण्ड इवायं प्रभुणा सम्पादितः, अद्भुतकर्मत्वाद् भगवत एतयोः स क्लेशः स्नेहातिशयहेतुरभूत्, क्लेशेन प्राप्तेर्थे तस्यावश्यतत्वात् ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने इन वचनों के द्वारा अपने प्रकट होने के पूर्व और उसके पश्चात् भी देवकी वसुदेवों को दुःख की प्राप्ति में हेतु का निरूपण किया है, ऐसा जानना आवश्यक है, देखिये (मत्तः कामानभीप्सन्तौ) इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि प्रश्नि सुतपाओं ने काम प्राप्ति के लिये भगवान् का आराधन किया था, भगवत्प्राप्ति के लिये नहीं, भगवान् का आराधन निष्फल नहीं होता अतः भगवान् श्री हरि का आविर्भाव हुआ, अविर्भाव होने पर उनकी सुन्दरता को देखकर उन जैसा पुत्र वरदान रूप से मांगा, स्नेह से आर्त होकर प्रभु का प्राकट्य नहीं मांगा (स्नेह जनित आर्ति के अभाव में प्रभु प्राकट्य की इच्छा कैसे हो सकती थी) इसलिये (वरं मत्सदृशं सुतम्) इत्यादि वाक्य से अपनी अभीष्ट प्राप्ति होने के अनन्तर भी ग्राम्य विषयों का सेवन ही उन्होंने किया ऐसा कहा है, ऐसी स्थिति में अपनी समानता को अन्यत्र नहीं देखकर अपने को ही पुत्र रूप से प्रकट करने को भगवान् का आग्रह हुआ, जिसके कारण मुक्तात्माओं को भी दुर्लभ (प्राप्त न होने वाले या कठिनता से प्राप्त होने वाले) अपने स्वरूप को थोड़े से कार्य के लिये प्रकट करना पड़ा, प्रभु ने (अदृष्ट्वाऽन्यतमम्) इस वाक्य से यह ही आशय सूचित किया है, अतः इस समय प्रभु के प्राकट्य के निमित्त से देवकी वसुदेवों को कंस के द्वारा किये गये बन्धन प्रयुक्त कष्ट का अनुभव उपस्थित हुआ, प्रश्नि सुतपाओं का पुत्र रूप में आग्रह था अतः इनके कीर्त्तिमान्, आदि पुत्रों का नाश भी हुआ, वह दुःख भी इन्हें भोगना पड़ा, एवं समानता में आग्रह था कि आप जैसा पुत्र हो और वह समानता (ऐश्वर्यादि) षडगुणों से ही सम्भावित है अतः षड्गुणों के समान संख्यावाले षट् (६) पुत्रों का ही नाश हुआ, भगवान् अद्भुतकर्मा हैं अतः उन्होंने ही मर्यादा की रक्षा के लिये इनको यह दण्ड जैसा विधान किया है, अद्भुतकर्मा भगवान् के एक कार्य में अनेक कार्य होते हैं अतः इनका वह क्लेश अधिक स्नेह का कारण बनगया क्योंकि क्लेश से प्राप्त हुई वस्तु में अधिक स्नेह आवश्यक है ॥ ४५ ॥

कारिकाः—

आविर्भावे पुत्रतया साधनं तु तपोऽभवत् । अग्रे लीलारसप्राप्तौ साधनं मृग्यमेव हि ॥ १ ॥
भक्तिमार्गीयमित्यात्मवियोगमकरोद्धरिः । तदा तु स्वत एवासीद् भगवद्भावसन्ततिः ॥ २ ॥
एतावन्ति दिनान्यासन्नेवं कुर्वन् भविष्यति । एतावन्मासिकश्चासीदेवमेवं करिष्यति ॥ ३ ॥
एतावद्वार्षिकश्चासीत् तेन चैवंविधाः शुभाः। लीलाः कुर्वन् साग्रजः श्रीप्रभुस्तत्र भविष्यति ॥४॥

कुशल्यास्ते साग्रजो नु कदा द्रक्ष्यामि तादृशम् । एवंविधानन्तभावैरत्यार्त्या दर्शने तयोः ॥५॥
मिथस्तथालापतश्च सर्वथेन्द्रियवृत्तयः । सर्वा हरिपरा आसन् स एव सततं हृदि ॥ ६ ॥
वियोगतापतप्तेऽभूत् तेनासां जीवनं तयोः । तेनैकादश वर्षाणि तथा कुर्वन् हरिर्बभौ ॥ ७ ॥
'युवां मा' मितिवाक्येन चेममेव वरं ददौ । अन्यथैतादृशो भावो न भवत्येव कुत्रचित् ॥ ८ ॥
अतो माहात्म्यधीयुक्तस्नेहोऽभवदिति प्रभुम् । चिरात् प्राप्य पितरौ सस्वजाते न शङ्कितौ॥९॥

कारिकार्थः—उक्त श्लोक पर श्री आचार्य चरणों ने इन कारिकाओं का उपन्यास कर श्रीमद्गोकुल में भगवान् के एकादश (११) वर्षों तक स्थित रहने का प्रयोजन बतलाया है+ कि—भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में श्री देवकी वसुदेवों का जन्मान्तरीय साधन तो तप हुआ, परन्तु आगे लीला रस की प्राप्ति में भक्ति मार्गीय साधन तो विचारणीय ही है ॥ १ ॥ इस कारण श्री हरि ने अपने वियोग रूप साधन को उपस्थित किया तब तो श्री देवकी वसुदेवों की स्वतः ही भगवद्भाव वृद्धि होने लगी ॥ २ ॥ कि—इतने दिन हो गये ऐसा करते होंगे, इतने मास के हो गये ऐसा २ करते होंगे । इतने वर्ष के हो गये, उस कारण से इस प्रकार की शुभ लीलाओं को करते हुए ज्येष्ठ भ्राता श्री रोहिणी नन्दन के साथ श्री प्रभु वहाँ पर विराजते होंगे ॥ ४ ॥ श्री बलभद्र के साथ आप प्रसन्न तो है कब मैं उनको सकुशल देखूंगा, इस प्रकार के अनन्त भावों से अत्यन्त विरह जन्य वेदना के कारण उन देवकी वसुदेवों को भगवान् का दर्शन (विप्रयोग दशा में) होता रहता था ॥ ५ ॥ ऐसी दशा में वह दोनों परस्पर में पूर्वोक्त प्रकार से बातचीत करते रहते थे इस कारण उनकी इन्द्रियों की वृत्तियां सर्वथा भगवत्परायण हो गई, वह भगवान् ही निरन्तर उनके हृदय में विराजमान रहते थे ॥ ६ ॥ भगवद्वियोग के ताप से सन्तप्त हृदय में भगवान् का विराजना ही उन दोनों के जीवन का कारण था, इन्द्रियों की एकादश (११) संख्या होने के कारण एकादश वर्ष पर्यन्त भगवान् श्री हरि उनकी इन्द्रिय वृत्तियों को अपने स्वरूप परायण करते हुए व्रज में विराजे ॥ ७ ॥ 'युवांमाम्' इस वाक्य से भगवान् ने श्री देवकी वसुदेवों को यह ही वर दिया था कि आप दोनों पुत्र भाव से या ब्रह्म भाव से बार बार मेरा चिन्तन करते स्नेह द्वारा परम गति को प्राप्त करोगे यदि भगवान् ऐसा वर नहीं देते तो इस प्रकार के भाव को कहीं भी संभावना नहीं थी ॥ ८ ॥ अतः देवकी

टिप्पण+ —असकृत चिन्तन का आकार प्रकार इन कारिकाओं में निर्दिष्ट किया है अतः श्लोक के व्याख्यान में 'असकृत्' 'चिन्तयन्तौ' इन पदों का उल्लेख नहीं है ?

वसुदेवों को माहात्म्य ज्ञान सहित स्नेह हुआ तभी तो कंस वध के अनन्तर एकादश वर्ष व्यतीत होने पर प्रभु को प्राप्त करके भी माहात्म्य ज्ञान से शङ्कित हुए माता पिताओं ने पुत्र वात्सल्य प्रयुक्त आलिङ्गन नहीं किया ऐसा आगे स्पष्ट उल्लेख है ॥ ६ ॥

श्री शुक उवाच

श्लोक —इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥ ४६ ॥

मूलार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस प्रकार कहकर भगवान् श्री हरि चुप हो गये और आत्म माया+ से माता पिताओं के देखते देखते तत्काल ही साधारण शिशु रूप हो गये ॥ ४६ ॥

टिप्पण —+ प्रभुचरण श्रीमद्गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथजी ने 'आत्ममाया' शब्द पर जो प्रकाश डाला है वह अत्यन्त ही आदरणीय एवं माननीय है, आपका कहना है कि यहां आत्म शब्द के प्रयोग के बिना 'भगवान्' शब्द के सान्निद्धय से ही भगवच्छक्ति रूप माया की प्रतिति होते हुए भी 'आत्म' शब्द का प्रयोग इस माया की विलक्षणता सूचित करता है कि यह माया आत्म स्वरूपा है जिस प्रकार आत्मा निर्विकार हैं शुद्ध है सत्य है यह माया भी वैसी ही है इसका उपयोग केवल भगवान् की निर्विकार शुद्ध सत्य लीलाओं के अनुभव कराने में ही है, असत्य पदार्थ का अनुभव कराने वाली संसार की बीज रूप माया से यह सर्वथा विपरीत है ऐसा होने पर भी इसको 'माया' इसलिये कहा जाता है कि यह भक्तों को अपने स्वरूप का विस्मरण करा देती है और भगवान् में आसक्ति करादेती है जैसे साधारण माया जीव के स्वरूप का विस्मरण कराकर लौकिक विषयों में आसक्ति कराती है, यह आत्ममाया भगवान् का ही एक अन्यतम स्वरूप है सूर्य का प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं उसी भांति यह आत्ममाया भी आत्म रूप ही है आत्मा से भगवान् से पृथक् नहीं है, इस आत्ममाया से ही श्री देवकी वसुदेव माता पिता हुए हैं अन्यथा गर्भाधान, प्रसव आदि के न होने पर भी इन्हें माता पिता कैसे कहा जा सकता है, इस आत्ममाया से ही देवकी वसुदेवों को इनका भली भांति दर्शन भी हो रहा है अन्यथा मानुष रूप में ईश्वर का भलि भांति ज्ञान असम्भव ही था इस स्वरूप का दर्शन नयनों के सामर्थ्य से नहीं किन्तु 'आत्ममाया' से ही हुवा है, 'प्राकृत' शब्द का भी स्वारस्य यह है कि इस शिशु का स्वरूप अपनी २ प्रकृति के अनुसार लोगों को प्रतीत होता है जैसे रंङ्गभूमि में मल्लों को व्रज स्त्रियों को काम आदि रूप से प्रतीत होंगे, लौकिक प्रकृति के जीव लौकिक समझते हैं और अलौकिक प्रकृतिवालों को अलौकिक रूप से प्रतीत होते हैं, प्रकृत्याग्राह्यम्' 'प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति से ऐसा मर्म स्पष्ट किया है, इसी प्रकार के निगूढ आशयों से 'रूपान्तर स्वीकार को अध्यायार्थ माना है' इसी रूपान्तर स्वीकार के समय ही श्रीमद्गोकुल में पुरुषोत्तम का प्राकट्य है उसी का यहां पर दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है—

श्री सुबोधिनी – एवमुक्त्वा रूपान्तर स्वीकरणं कृत्वा नित्याहेत्यक्तवासीदोति, तुष्णींभावोऽनुक्त सिद्धोऽपि रूपवज् ज्ञानस्यापि तिरोभाव प्रतिपादनार्थः, यथा रूपं प्राकृतं स्वीकृतवानेवं प्राकृतमेव ज्ञानं स्वीकृतवानिति, तथा सति रूपान्तरस्वीकरणंसम्यगुत्पद्येत, नन्वेवं स्वविरुद्धधर्मं कथं स्वीकृतवानित्याह हरिरिति, यतः स सर्वदु.खहर्ता, स्वरूपम-प्यन्यथा करिष्यती त्याशङ्क्याह भगवानिति. रूपज्ञानकार्ययोरपि तदा प्राकट्यं न स्यादित्याशङ्क्याहात्ममायायेति, स्वस्यैव सर्वभवनसामर्थ्येन तथा कृतवान्, ततः स्वेच्छया यदा तत्कार्यमायास्यतीति गीतोपदेशने भीष्ममुक्तो स तथैव तदा प्रकटीभविष्यति, अन्यदा तु मातृप्रार्थनया रूपान्तर–

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कहकर भगवान् ने अन्य रूप का अङ्गीकार किया यह उक्त श्लोक से कहते हैं, यद्यपि भगवान् का चुप होना नहीं भी कहा जावे तो भी वह तो सिद्ध ही है उसके बतलाने को किसी शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं, परन्तु इस मर्म की सूचना देने को आप के चुप होने का शब्दतः उल्लेख किया है कि जिस प्रकार अलौकिक रूप को छुपाया उसी प्रकार आपने अपने आलौकिक दिव्य ज्ञान को भी छुपा लिया, जिस प्रकार प्राकृत रूप का स्त्रीकार किया उसी प्रकार ज्ञान भी प्राकृत स्वीकार किया, क्योंकि वैसा करने पर रूपान्तर का स्वोकार भली भांति सङ्गत होगा, सर्वांश में संघटित होगा, इस प्रकार अपने स्वरूप से विरुद्ध धर्म का स्वीकार क्यों किया ? इस शङ्का की निवृत्ति 'हरि' शब्द से होती है, आप हरि हैं सर्व दुःखों का हरण करने वाले हैं, रूपान्तर के स्वीकार किये बिना भक्तों का दुःख निवृत्त नहीं होता अतः आपने वैसा किया, 'कहीं अपने मूल स्वरूप को भी आकार, और ज्ञान को भांति अन्यथा न करलें, इस शङ्का के निवारणार्थ 'भगवान्' शब्द कहा है, कि प्राकृत रूप में भी वह मूल स्वरूप भगवान् ही है, यदि भगवान् ही है तो प्राकृत रूप और प्राकृत ज्ञान के कार्य प्रकट नहीं हो सकते वात्सल्य, माधुर्य आदि रस का अनुभव एवं आसुर व्यामोह, आदि क्रमशः प्राकृत रूप, एवं प्राकृत ज्ञान के कार्य हैं, उनका सम्भव नहीं हो सकेगा, इस शङ्का के समाधान करने को 'आत्ममायया' इस पद का प्रयोग किया है भगवान् ने अपनी सर्व भवन सामर्थ्य (सब कुछ होने की शक्ति) से प्राकृत रूप एवं ज्ञान का अङ्गिकार किया है, इस कारण अपनी इच्छा से जब निज मूल रूप का कार्य आयेगा तब अर्जुन के प्रति गीता के उपदेश के अवसर पर एवं भीष्मपितामह के मुक्ति प्रसङ्ग पर वैसे ही दिव्य रूप एवं ज्ञान को प्रकट करेंगे, अन्य काल में तो माता श्री देवकी की प्रार्थना से प्राकृत रूप से ही दर्शन देवेंगे, जब ही चुप हुए उसी समय तत्काल ही प्राकृत बालक हो गये, नाभि के नालच्छेद की अवस्था से पूर्ववर्ती अवस्था में दर्शन देने लगे, नटों को रूप परिवर्तन करने में दर्शनार्थियों की परोक्षता अपेक्षित है परन्तु भगवान् नटवर प्रभु के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं इस कारण कहते हैं कि माता पिताओं के देख देखते प्राकृत शिशु रूप हो गये,—

श्री सुबोधनी—मेव प्रदर्शयिष्यतीतिभावः, यदैव तूष्णीं स्थितस्तदैव सद्यस्तत्क्षणमेवऽप्राकृतः शिशुर्बभूवाच्छिन्न-नालोऽवस्थितः, नटानां रूपान्तरस्वीकारे दिदृक्षूणां परोक्षताऽपेक्ष्यतेऽत्र तु तन्नापेक्ष्यत इत्याह पित्रोः सम्पश्यतोरिति, लौकिकज्ञाननैपुण्यं पितुः, उभयमपि विद्यमानमेव न भगवत्सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धकम् ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ—माता लौकिक ज्ञान में निपुण है, और पिता पारमार्थिक अलौकिक ज्ञान में निपुण है, दोनों प्रकार की निपुणता उपस्थित होते हुए भी भगवान् के सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं कर सकीं, वह तो उनके सामने ही अद्भुत बालक प्राकृत शिशु रूप में प्रद्युत हो गये ॥ ४६ ॥

श्लोकः—ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ॥
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाऽजनि नन्दजायया ॥४७॥

मूलार्थ—और उसके पश्चात् भगवान् से प्रेरित होकर श्री वसुदेवजी जब प्रसव मन्दिर से पुत्र को लेकर बाहर जाने लगे उसी समय नन्दपत्नो श्री यशोदा ने योगमाया को जन्म दिया जो 'अजा' भी कहलातो है ॥४७॥

श्री सुबोधिनी—एवं स्वीकृत्य रूपान्तरं तत्र स्थितौ प्रयोजनाभावात् स्वयं गमने रूपान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात् तस्य वाज्ञानात् सर्वसमाधानार्थं तं बोधयित्वा तद्द्वारा स्वयं गोकुले गतवानित्याह ततश्चेति, प्राकृतभावानन्तरं शौरिश्चकारा-ज्ञापनानन्तरं च सुतं भगवन्तं समादाय सम्यग् गृहीत्वोत्तमपात्रं वस्त्रं च प्रसार्य तदुपरि स्थापयित्वा स सूतिकागृहाद् यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्हि तस्मिन् समये नन्दजायया योगमायाऽजनि जनिता, शौरिरिति गमने भयाभावः, स इति भगवद्वाक्ये विश्वासः, सुतमिति, तस्यापि पुत्रत्वबुद्धिः प्राकृतेव जातेति ज्ञापितं, सूतिकागृहादिति, प्रसवधर्माः

व्याख्यार्थ—इस प्रकार रूपान्तर के स्वीकार करने पर वहां स्थित रहने में कोई प्रयोजन नहीं था, एवं स्वय पधारने में रूपान्तर के स्वीकार की सार्थकता नहीं होती, तथा वसुदेवजी को यह कुछ ज्ञान नहीं था कि अब इनको कहां पधराया जावे इन सब कारणों से सर्वत्र त्रुटियों के समाधान करने को वसुदेवजी को मानसिक प्रेरणा देकर उनके द्वारा स्वयं श्रीमद्गोकुल पधारे यह कहते हैं, 'ततश्च' प्राकृत भाव होने के अनन्तर 'च' शब्द से यह भी सूचित होता है कि भगवान् की आज्ञा के भी अनन्तर 'शौरि' शूरनन्दन श्री वसुदेवजी ने सुत रूप में भगवान् को अच्छी तरह लेकर उत्तम पात्र को लेकर उस पर वस्त्र को बिछा कर और उसके ऊपर बालक को स्थापित करके सूतिका सदन से जब बाहर जाने की इच्छा की उसी समय नन्द पत्नी यशोदा ने योग माया को जन्म दिया, "शौरि" शब्द से वसुदेवजी को ऐसी विकट परिस्थिति में रात्रि के समय महावन के प्रति प्रस्थान करने में किसी प्रकार का भय नहीं था, यह सूचित होता है, 'स' शब्द पूर्व परामर्शक होने से भगवान् के वाक्य में विश्वास का सूचक है कि यह वह वसुदेवजी है जिनका भगवान् के प्रति वार्तालाप करके उनके वाक्य में दृढ विश्वास हो चुका है, 'सुतम्' शब्द से यह विदित किया जाता है कि वसुदेवजी को भगवान् के प्रति पुत्र बुद्धि प्राकृत जैसी हो गई थी, 'सूतिका गृहात्' शब्द से स्पष्ट होता है कि प्रसव के धर्म उस गृह में भी प्रकट हुए थे श्री देवकी के भी प्रसव वतीत्व

(बालक को जन्म देने वाली माता के धर्म) प्रकट हुए, साधारण❀मोह की निवृत्ति साधारण ज्ञान से हो सकती है, इसलिये गोकुल जाने में स्वच्छन्दता का होना और कपाटों का खुल जाना उचित है—

श्री सुबोधनी—तत्रापि गृहे आविर्भूताः, देवक्या अपि सूतिकात्वं जातं, साधारणमोहस्य निवर्तकं साधारणं ज्ञानमिति गमनस्वाच्छन्द्यं कपाटोद्घाटनं च, आत्मन इव देहस्यापि विस्मरणं यथा भवति तदर्थं तस्मिन्नेव समये योगमाया जाता, भगवत्समानकाले चेज् जाता भवेत् तदा देवकीवसुदेवयोरपि प्रस्वापः स्यात्, अनेन मुहूर्तानन्तरं न जातेति ज्ञायते, नवम्यां च सा जाता, रोहिणी तु तुल्या, अतो रोहिण्याः कृत्तिकावेधो न दोषाय, सप्तमीवेधस्तु दोषायैव, पुत्रोत्सवादिकं शुद्धनवम्यामेव जातमिति शुद्धाष्टनवम्यप्युपोष्या, अन्तःस्थिते भगवति मायोद्गमो न भवतीति यदैव बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्येव जातेत्युक्तं, सा हि योगार्थमेव माया, भगवतः कार्योपायार्थमेव लोकान् व्यामोहयतीति, मायाया स्वतन्त्रज्ञानपक्षं व्यावर्तयितुं नन्दजायया जनितेत्युक्तं, न तु भगवानिव सा स्वत आविर्भूतेति ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थ—गोकुलवासी जिस प्रकार अपने आपको भूल सकें उसी प्रकार देह को भी भूल जावें, लड़का हुवा या लड़की ऐसा न समझ पावें इसलिये उसी समय योगमाया प्रकट हुई, भगवान् के समान काल में यदि प्रकट होती तो देवकी वसुदेव भी सो जाते, उनको भी निद्रा आजाती, इससे विदित होता है कि भगवान् के प्रकट होने से एक मुहूर्त पीछे वह प्रकट हुई है और उसने नवमी तिथि के आने पर जन्म ग्रहण किया है, रोहिणी नक्षत्र तो दोनों के जन्म के समय समान ही था, अतः उपवास करने में रोहिणी नक्षत्र का कृत्तिका नक्षत्र से बेध होना दोष जनक नहीं, सप्तमी तिथि का बेध तो दोषावह है ही, पुत्रोत्सव आदि तो नवमी में ही हुआ था अतः शुद्ध अष्टमी के न मिलने पर केवल नवमी के दिन ही उपवास करना आवश्यक है, भगवान् के अन्तःस्थित + रहने पर माया का उदय नहीं हो सकता अतः जब ही बाहर जाने की इच्छा की उसी समय माया ने जन्म लिया ऐसा कहा है, वह माया योग के लिये ही उपयुक्त है, भगवान् के कार्यों में उपायों की सिद्धि के लिये लोगों को व्यामोहित करती है, प्रस्तुत में भगवान् का गोकुल पधारना ही कार्य है उसमें विघ्न उपस्थित न होने के उपाय को सिद्ध करने के लिये

टिप्पण— ❀भगवान् ने वसुदेवजी को अपने गोकुल पहुँचाने और वहां से कन्या के ले आने को प्रेरणा दी है, केवल इतने ही कार्य में वसुदेवजी भगवान् की ज्ञान शक्ति से व्याप्त थे अतः उन्हें योगमाया से उत्पन्न होने वाला सर्व लोक साधारण मोह बाधक नहीं हुआ, उस साधारण मोह की निवृत्ति उस साधारण ज्ञान से हो गई, वसुदेवजी का वह भगवत्प्रेरणालभ्य ज्ञान साधारण ही था अतः उनको जाने में स्वच्छन्दता का भान होने से धीरे धीरे पैरों को रखते हुए जाना पड़ा क्योंकि उन्हें असाधारण ज्ञान तो था नहीं कि यह भगवत्कार्य अवश्यमेव सिद्ध होगा अतः अपनी चतुरता करनी पड़ी ।

टिप्पण—+इन पङ्क्तियों से श्रीमदाचार्यचरण स्पष्ट सङ्केत करते हैं कि जिस हृदय में भगवान् विराजते हैं वहां माया को अवकाश नहीं एवं माया छल कपट आदि को आश्रय देने पर हृदय में भगवान् विराज नहीं सकते पधार जाते हैं—

नागरिक लोगों को शयन करा देना ही मोहित कर देना है, माया को स्वतन्त्र न समझा जावे इसलिये (नन्दजायया) पद से सूचित किया है कि यशोदा ने उसे जन्म दिया है, भगवान् की तरह वह स्वयं ही प्रकट नहीं हुई ॥ ४७ ॥

श्लोक-तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वनुशायितेष्वथ ॥
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसीलशृङ्खलैः ॥ ४८ ॥

मूलार्थ—योग माया ने द्वार रक्षक पुरुषों की एवं नगर निवासियों की भी समस्त बुद्धि वृत्तियों का हरण कर लिया और उनको निद्रा के आधीन भी कर दिया, द्वार तो सब ही पूर्व में ही उन द्वार रक्षकों ने बड़े बड़े किवाड़ और लोह की जञ्जीरो से बन्द कर दिये थे उनसे निकलना बड़ा कठिन था ॥ ४८ ॥

श्री सुबोधनी—तस्याः कार्यमाह तयेति, तया मायया हृताः प्रत्ययानां सर्ववृत्तयो येषु जाग्रत्स्वापयोः प्रत्ययानां ज्ञानानां वृत्तयः संशयादय उत्पद्यन्ते, मायामोहितास्तु मूर्च्छिता एव जाताः, जगति तस्यामुत्पन्नायां तत्प्रभावः, यशोदादयस्तु मुग्धा एव गोकुलवासिनश्च, ततः क्रमेण मथुरायां द्वास्थास्ततः पौराः, न केवलं पूर्ववद् बुद्धिरेव गृहीता किन्तु निद्रयातिरिक्तबुद्धिरपि सम्पादिता. यथा भूयान् कालो लोकान्तरं गतानामिव मुग्धतया गच्छति तथा

व्याख्यार्थ—उस योगमाया का कार्य बतलाते हैं कि उस योगमाया ने द्वारस्थ पुरुषों में विद्यमान उनकी प्रत्यय (ज्ञान) वृत्तियों का हरण कर लिया, उनके सर्ग विध ज्ञानों को व्यापारात्मक वृत्तियाँ विलुप्त हो गई, उन्हें किसी प्रकार का भान नहीं रहा, जागरण, एवं स्वप्न इन दो अवस्थाओं में सर्ग प्रत्यय या ज्ञानों की संशय आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, माया से मोहित हुए द्वारपाल लोग तो मूर्च्छित हो गये, जगत् में माया के उत्पन्न होने पर उसका प्रभाव पड़ा, श्री गोकुलवासी श्री यशोदा आदि तो मुग्ध हो गये, उनकी सावधानता जाती रही तत्पश्चात् क्रम से मथुरा में द्वारपाल, तदनन्तर मथुरा के नागरिक लोग भी असावधान हो गये, माया ने केवल पूर्ववत् बुद्धि का हरण मात्र ही किया हो इतनी ही बात नहीं किन्तु निद्रा के द्वारा अतिरिक्त बुद्धि भी सम्पन्न करदी, जिस प्रकार अत्यन्त दीर्घ काल अन्य लोक के प्रति चले जाने वालों की भांति असावधानो से चला जाता है, उस प्रकार माया ने लोगों को सुलादिया. सुषुप्ति (गाढ निद्रा) को प्राप्त करा दिया, ऐसा होने पर द्वार स्वयं खुल गये, इस माया ने इतना ही कार्य किया कि लोगों की बुद्धि वृत्तियों का हरण और निद्रा से उनका अत्यन्त अचेतनी भाव सम्पादन, बस इतना तो माया का कार्य हुआ, अन्य कार्य तो अन्य प्रकार से सम्पन्न हुआ यह बतलाने को अथ शब्द का प्रयोग किया है, (अथ) शब्द भिन्न प्रकार से क्रम के परिवर्तन का बोधक है, कपाटों के स्वय खुलजाने में माया का प्रभाव कारण नहीं भगवत्प्रभाव ही कारण है, वह सब ही द्वार जिन्हें पूर्व में उन्हीं द्वार पुरुषों ने बड़े २ कपाटों से लोहे की कील व जंजीरों से बन्द कर रखे थे, जो स्वभाव से भी दुर्गम थे जिन्हें प्राप्त करना या उल्लंघन करना कठिन था

श्री सुबोधिनी—अनुशायितेषु सुषुप्ति प्रापितेषु सत्सु, इयं हि मायैतावत्कार्यमेव कृतवती, अन्यत् त्वन्यथा जातमिति वदन् प्रकृमान्तरमाहाथेति, पूर्वं तैरेव द्वारपालकैः सर्वा एव द्वारो बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः पिहिताः स्वभावतोऽपि दुरत्यया

कारिका—गजा व्याघ्राः क्वचित् सिंहा विषमाश्चैव भूमयः दिवसेऽपि गतो नित्यं सर्वथा भयहेतवः ॥ १ ॥

श्री सुबोधिनी—येषु द्वारेषु, गमनमात्रेऽपि साधारणानां बन्धो भवति, तत्रापि पिहिताः, बृहन्ति कपाटानि यत्र, आयसाः कीलाः शृङ्खलाश्च यासु, कुञ्चिकयैवोद्घाटयितुं शक्याः, कुञ्चिकाऽपि विषमा, ॥४८॥

कारिकार्थ—जहां हाथी, व्याघ्र, कहीं कहीं सिंह तथा उँची नीची भूमि यह सब दिन में भी जाने में भय के कारण सर्वदा एवं सर्वथा उपस्थित रहते थे, जिन द्वारों पर साधारण लोग तो जाते ही कैद कर लिये जाते थे, उस पर भी उस समय तो वह द्वार बद्ध थे जिनमें बड़े बड़े किवाड़ लगे थे, लोह की कील व जंजीरें थीं, अथवा कील सहित जंजीरें थी, वह ताली से ही खोले जा सकते थे, उनके खोलने की ताली भी विषम थी, उसको जानने वाला ही काम में लासकता था, सर्व साधारण के लिये उससे कपाटों का उद्घाटन नहीं हो सकता था ॥ ४८ ॥

आभास—एतादृशा अपि कृष्णवाहे वसुदेवे समागते स्वयमेव व्यवर्यन्त (इत्याह)

श्लोक—ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः ॥
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः ।४९।

मूलार्थ—वह बड़े बड़े द्वार श्रीकृष्ण के वाहक वसुदेवजी के आते ही सूर्य से अन्धकार की भांति स्वयं ही हट गये, मन्द मन्द गर्जना के साथ मेघ वर्षा करने लगा, (वर्षा से भींग जाने की स्थिति नहीं आसकी) भगवान् शेषजी फणों के द्वारा जल का निवारण करते पीछे से चल रहे थे ॥ ४९ ॥

श्री सुबोधिनी—विशीर्णा जाताः, स्वयमेवोद्घाटितकपाटा जाताः, भगवतः सर्वमोक्षदातृत्वात् कपाटानामप्यचेतनानामतितामसैर्बद्धानां मुक्तिः प्रदर्शिता, अनेनान्येषां मुक्तिर्व्याख्याता, यदि शुद्धसत्त्वं भगवद्वाहकं चेद् भवति, एतत्प्रदर्शनार्थमेव कृष्णवाहे वसुदेव इत्युक्तं, अयमेवोपाय इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह यथा तमो रवेरिति, उपायसहस्रेणापि सर्वं तमो न गच्छति, उदिते तु सूर्ये स्वत एव गच्छति तथा शुद्धसत्त्वे भगवत्सहिते सत्येव सर्वाविद्यानाशः,

योगमायाका प्रभाव

गीताप्रेस, गोरखपुर

वसुदेवजी भगवान्‌को लेकर चले।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के भी वह द्वार भगवान् कृष्ण को पधराकर वसुदेवजी के आने पर स्वयं ही खुल गये (ऐसा कहते हैं) कि वह द्वार विशीर्ण हो गये, उनकी दृढता शीथिल हो गई उनके कपाट स्वयं ही पृथक् २ हो गये, इस वर्णन से यह बतलाना अभीष्ट है कि भगवान् मोक्ष के दाता हैं अतः जड़ जातीय कपाट जिन्हें अत्यन्त तमोमय लोह कील शृङ्खलाओं ने बन्धन में ड़ाल रखा था उनको भी मुक्त कर दिया, इस प्रकार तामस कर्मबद्ध मूढों को भी मुक्ति का प्रदर्शन कराया गया है, इससे अन्य ज्ञान शून्य व्यक्तियों की मुक्ति का भी स्पष्टी करण कर दिया है, यदि शुद्ध सत्व भगवान् को धारण करता हो तो मुक्ति होना अनिवार्य है ऐसी सूचना के लिये (कृष्णवाहे) (वसुदेवे) इन पदों का उल्लेख किया है (सत्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितम्) के अनुसार, रजोगुण, तमोगुणों से अस्पृष्ट शुद्ध सत्वात्मक अन्तःकरण में यदि कृष्ण की धारणा सिद्ध हो जाय तो मोक्ष सहज सिद्ध है, मोक्ष प्राप्ति का यह ही उपाय है यह बतलाने को दृष्टान्त कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है, सहस्रशः उपाय करने पर भी सम्पूर्ण अन्धकार निवृत्त नहीं होता, सूर्य के उदय होते ही स्वतः चला जाता है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तः करणके भगवद्भाव पूर्ण होने पर सम्पूर्ण अविद्या का (बन्धन करने वाली माया का) नाश हो जाता है।

श्री सुबोधिनी—सर्वासाध्यानां स्वत एव सिद्धिर्नान्यथेति निरूपितं, अन्तर्द्वारेषु निर्गतेषु मायायाः प्रवेश उभयोः साम्मुख्ये यदासीत् तदाह ववर्षेति, वृष्टिरपि सर्वेषामनुत्थाने हेतुः, उपांशुगर्जितं चानुत्थाने शब्दान्तरप्रतिबन्धे च, अधिकगर्जने तेनैव प्रबोधः, एतावन्मायाकार्यं साधारण्येन प्रवृत्तं वसुदेवस्यापि खेदहेतुर्भवति, अतस्तन्निवारणार्थं शेषोऽन्वगात्, पातालात् समागत्य फणैः पर्जन्यवारि निवारयन्नन्वगात्, पश्चाद्भागेन गतवान्, भगवत्सम्बन्धात् तत्कृतं तु भयं न भवति, अन्तरिक्षे निवारयन् गच्छतीत्येके, फणैरितिपदादन्वगादिति च पश्चादेव छत्रधारीव गच्छतीति ज्ञायते ॥४८॥४९॥

व्याख्यार्थ—समस्त असाध्य कार्यों की सिद्धि स्वतः हो जाती है जोकि अन्य प्रकार से नहीं हो पाती, ऐसा यहां निरूपण किया है, अन्तर्द्वारों के निकल जाने पर, नगरी के भीतरी दरवाजों के पारकर जाने पर, माया का प्रवेश हुआ है, भगवान् और माया इन दोनों के सम्मुख होने पर जो दृश्य उपस्थित हुआ उसे कहते हैं कि वृष्टि होने लगी, वृष्टि भी सब लोगों के न उठने में कारण हुई, वर्षा के कारण सब लोग पड़े ही रहे, मेघों का उपांशु गर्जित (मन्द २ गर्जना) भी लोगों के न उठने का कारण हुई तथा अन्य शब्दों के कर्णगत न होने में भी कारण हुई, मेघ की मन्द गर्जन से अन्य कोई किसी के आने जाने का शब्द नहीं सुनाई पड़ता था, अधिक गर्जना होने पर तो लोग उस गर्जना से ही जाग उठते अतः मन्द गर्जना लोगों के न उठने में कारण सिद्ध हुई, यह इतना ही केवल वर्षा मात्र माया का कार्य सर्व साधारण रूप से प्रवृत्त हुआ वसुदेवजी को भी खेद का जनक है अतः उस खेद के निवारणार्थ शेषजी पीछे से चलने लगे, पाताल से आकर फणों के द्वारा मेघ के जल को रोकते अनुगमन करने लगे, शेषजी वसुदेवजी के पीछे की ओर से चल रहे थे, भगवान् के सम्दन्ध के कारण से शेष के सर्प रूप से होने वाले भय का सम्भव नहीं, कुछ विद्वानों का कहना है कि शेषजी अन्तरिक्ष आकाश में चल रहें थे, तब तो शरीर के द्वारा भी

वृष्टि का रोकना सम्भव था, यहां तो फणों से वारि (जल) का निवारण कहा है, एवं ऊपर चलना न कहकर (अनु-अगात्) पीछे से चलना कहा है। अतः स्पष्ट होता है कि शेषजी वसुदेवजी के पीछे से ही छत्रधारी कर्मचारी की भांति चल रहे थे ॥ ४६ ॥

श्लोक—मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ॥
भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ॥५०॥

मूलार्थ—इन्द्र के बराबार वर्षा बरसाने के कारण यमुनाजी गम्भीर प्रवाह से बह रहीं थी. लहरियों से लहरारहीं थी झागों से झगड़ रही थो, भयानक भंवर पड़ रहे थे उन भंवरों से व्यग्र हो रहीं थी (ऐसी दशा में) यमुना नदी ने वसुदेवजी को उस प्रकार मार्ग देदिया जिस प्रकार सीतापति श्री रामचन्द्ररजी को लङ्का जाने केअवसर पर समुद्र ने मार्ग दिया था ॥ ५० ॥

श्री सुबोधीनी—यथा यथा गोकुलनिकटे गमनं तथा तथा मायासान्निध्याद् गमने क्लेशाधिक्यं भगवत्सान्निध्याच्च तदभाव इति ज्ञापयितुं यमुनोत्तरणे प्रकारमाह मघोनि वर्षतीति, भगवज्जन्मसमये सर्वतो निवृत्ता अपि मेघा मायाजन्मनि सर्वे समागताः, इन्द्रोऽपि माया मोहितो मेघप्रेरको जातः, केवलाश्चेद् भगवति गच्छति निवृत्ता अपि भवेयुः, अल्पानां मोहितानामल्पधैर्यवत्त्वेन महति विरोधासम्भवात्. अत आह मघोनीन्द्रेऽसकृद् वर्षति सति, स्वभावतोऽपि यमुना क्रुरेत्याह यमानुजेति, अत एव गम्भीरतोयोघजवोर्मिफेनिला, गम्भीरो भयानकोऽगाधो यस्तोयौघस्तस्य जवेन वायुवशाच्च य ऊर्मयस्तत्सहिता फेनिला च, त्रिविधोऽपि दोषस्तस्या निरूपितः, अतिवेगो राजसः, फेनादिस्तामसः एवं कालकृतं दोषमुक्त्वा स्वाभाविकं दोषमाह भयानकावर्तशताकुलेति, भयानका भयजनका

व्याख्यार्थ—जैसे जैसे गोकुल के निकट पहुँचना तैसे तैसे माया के समीप होने के कारण पहुँचने में क्लेश का अधिक होना, एवं भगवान् के सन्निधान से उन क्लेशों का अभाव हो जाना यह जतलाने को यमुना के उस पार जाने में प्रकार को कहते हैं कि इन्द्र के वृष्टि करते रहने पर यमुना का प्रवाह भयावह था परन्तु भगवान् के कारण कोई क्लेश उपस्थित नहीं हुआ, भगवान् के जन्म समय में मेघ सब ओर हट गये थे तो भी माया के जन्म के समय में सब आगये, इन्द्र भी माया से मोहित होने के कारण मेघों को प्रेरणा देने लगा, यदि इन्द्र की प्रेरणा न होती, केवल मेघ ही होते तब तो भगवान् के गोकुल पधारने के समय हट भी जाते क्योंकि अल्प योग्यता वाले साधारण माया मोहित लोगों का धैर्य अल्प ही होता है अतः वह महान् पुरुषों के प्रति विरोध नहीं करते यहां क्षुद्र जातीय मेघों का भगवान् से विरोध करना असम्भव है यह बतलाना है, परन्तु इन मेघों को तो देवराज इन्द्र से प्रेरणा मिल रही थी अतः वह वर्षा बरसाते रहे रुके नहीं इससे कहा है कि 'मघोति वर्षति' देवराज इन्द्र के बार बार वर्षा करने पर वैसी परिस्थिति हो गई, माया मोहित देवराज इन्द्र की प्रेरणा का बल पाकर मेघ वर्षते ही रहे जिससे

यमुना प्रवाह भयावह हो गया, 'यमानुजा' शब्द से यमराज की भगिनी होने के कारण स्वाभाविक क्रूरता बतलाई है (जो कि भयङ्कर परिस्थिति के वर्णन में अनुकूल है) अत एव गम्भीर जल प्रवाह के वेग से एवं उमंग की तरंगों से तथा फेन (झागों) से युक्त बतलाया गया है, श्री यमुना का प्रवाह गम्भीर था उसकी अगाधता गहराई भयानक थी, प्रवाह वेग से तथा वायु के—

श्री सुबोधिनी—ये आवर्ता भ्रमरास्येषां शतैराकुला, समप्रवाहरहिता व्यग्रा वा, आवर्तास्तामसाः, वैयग्र्यं राजसं, एवं स्वाभाविका अपि त्रयो दोषाः, एवं दुष्टाऽपि भयान् मार्गं ददौ, सर्वा नद्यः समुद्रपत्न्यः, रामावतारे समुद्रोऽपि मार्गमप्रयच्छन् शोषितः किं पुनस्तस्याल्पसत्त्वा भार्या ? अतः स्वरूपादेव प्रच्युता भविष्यामीति सिन्धुरिव मार्गं ददौ, किञ्च यमुनाजलेऽग्रे लक्ष्मीभिः सह क्रीडां करिष्यति, अतः सन्तोषादपि ददौ, यथा लक्ष्मीपतेर्जामातुः श्वशुरः समुद्रः कदाचित् स्वगृहे नयन् मार्गं प्रयच्छति, अथवा श्रीः सीतैव, तस्या एकस्याः कामुकश्चेत् समुद्रशोषं कृतवान् बहूनां गोपिकानां कामुकः कथं न कुर्यात् ? ॥ ५० ॥

व्याख्यार्थ—कारण उठती हुई लहरों से युक्त थी तथा फेन (झागों) से पूर्ण थी, यमुना के तीन प्रकार के दोष का निरूपण इस विशेषण से हुआ है, अत्यन्त वेग से राजस दोष है, और झाग बबूला आदि तामस दोष है, (गाम्भीर्य सात्विक दोष है) इस प्रकार वर्षा काल जनित दोषों को कहकर स्वाभाविक दोष बतलाते हैं कि सैकड़ों भयङ्कर आवर्त (भमरों) से आकुल थी, उनका प्रवाह सम नहीं था ऊंचा नीचा विषम रूप से बहता था, अन्यथा उन भंवरों से व्यग्र थीं, अपनी घबड़ाहट प्रकट कर रही थी, आवर्त (भंवर) तामस है, व्यग्रता राजस है, (समान प्रवाह का न होना सात्विक दोष है) इस प्रकार स्वाभाविक तीनों दोषों का भी निरूपण किया, इस प्रकार स्वाभाविक एवं आगन्तुक दोषों से युक्त होते हुए भी-भय के कारण मार्ग देने में अनुकूल हो गई मार्ग देदिया, विघ्न नहीं किया, सब ही नदी समुद्र की पत्नी होती है रामावतार में समुद्र भी भगवान् को मार्ग न देने के कारण शुष्क कर दिया था, तब उस समुद्र की अल्प सामर्थ्य वाली एक पत्नी की तो बात ही क्या है, अतः स्वरूप से ही भ्रष्ट हो जाऊंगी इस भय से समुद्र की भांति मार्ग देदिया, अथवा आगे लक्ष्मो (श्री गोपीयों) से जल क्रीड़ा करेंगे इस सन्तोष से कि मेरा भी सौभाग्य सिद्ध होगा श्री यमुना ने मार्ग दे दिया, जिस प्रकार लक्ष्मीपति को अपने जामाता भगवान् को उनका श्वसुर समुद्र कभी उन्हें अपने घर में ले जाने को मार्ग देता है, अथवा श्री शब्द से सीताजी का ही ग्रहण अभीष्ट है एक सीता के कामुक रघुनाथ जी यदि समुद्र को सुखा चुके तो बहुत सी गोपिकाओं के कामुक होकर मुझे क्यों न सुखा देंगे इस भय से यमुना ने मार्ग देदिया ॥ ५० ॥

श्लोक—नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ॥
शिशुं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्।५१।

मूलार्थ—वसुदेवजी नन्दराय के व्रज में पहुँचकर वहां उन गोपों को निद्रा के कारण सोता हुआ पाकर श्री यशोदा की शय्या पर नवजात शिशु को स्थापित कर उनको सुता को उठाकर फिर अपने घर लौट आये ॥ ५१ ॥

श्री सुबोधिनी—एवं मार्गवन्नदीमुत्तीर्य गोकुले गतस्य कृत्यमाह नन्दव्रजमिति, शौरिरित्यभये नन्दस्य च मित्रत्वात्, व्रजे च गवामपि कदाचिच्छब्दो भवत्यतः पुरुषगमनशब्देनापि न तत्रत्यानां जागरणं, उपेत्य समीपे गत्वा, अनेन -शनैः शनैर्गमनं सूचितं, तत्र च तान् सर्वदा जागरणयुक्तानपि तदा प्रसुप्तानुपलभ्य, केवलमपि शयनं सम्भवतीति निद्रयेत्युक्तं, शिशुं बालकं भगवन्तं, भगवत्त्वज्ञानेन पुत्रत्वस्य वक्तुमशक्यत्वान्नामान्तराणामकृतत्वाद् भगवत्त्वे स्थापनस्यायुक्तत्वाच्छिशु-मित्युक्तं, शयने शय्यायां, अयुक्तमित्याशङ्क्य शयनपदं दत्तं, यशोदायाः शयने सति यशोदायाः शयनं यत्रेति निधाय नितरां स्थापयित्वा तत्सुतां मायामुपादाय पुनस्तेनैव मार्गेण स्वगृहानगात् ॥५१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार मार्ग की तरह नदी को पारकर गोकुल में पहुँचे हुए वसुदेवजी का कार्य बतलाते हैं कि शूरनन्दन वसुदेव वहाँ जाकर गोपों को सोया हुआ पाकर नवजात शिशु को वहाँ श्री यशोदा की शय्या पर पधराकर गृह के प्रति लौट आये. "शौरि" शब्द वसुदेवजी के अभय का सूचक है, और नन्दराय के व्रज में जाना है वहाँ उनको जाने में हर्ष प्रकर्ष का होना आवश्यक है क्योंकि नन्दराय वसुदेवजी के मित्र हैं अतः निर्भयता पूर्वक प्रसन्नता से पहूंचे, 'व्रज' गौओं के निवास स्थान को कहते हैं वहाँ कभी कभी गौओं का शब्द होता ही रहता है अतः मनुष्य के चलने के शब्द (पैंछट) से भी वहां वालों का जाग जाना सम्भव नहीं, 'उपेत्य' शब्द 'समीप में जाकर' इस अर्थ का वाचक है, इससे धीरे २ जाने की सूचना होती है (वसुदेवजी चुपके से पैर रखते हुए गये जिससे कोई जाग न जावे) और वहाँ पर उन सदा जागने वाले गोपों को भी उस समय सोता हुआ पाया, शयन निद्रा के बिना केवल पड़े रहने को भी कह देते हैं अतः 'निद्रया' शब्द का प्रयोग किया कि वह लोग निद्रा से सो रहे थे, बालक रूप भगवान् के प्रति इस अवसर पर 'शिशु' शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि वसुदेवजी को उनके भगवान् होने का ज्ञान है इस दृष्टि से 'पुत्र' शब्द का प्रयोग उचित नहीं, अन्य नामों का अभी आविर्भाव हुआ नहीं है, 'भगवान्' शब्द का प्रयोग भी स्थानान्तर पर छोड़ने के अवसर पर उचित नहीं क्योंकि भगवान् होने पर उनका स्थापन अन्यत्र विसर्जन) युक्त नहीं, अतः 'शिशु' शब्द ही उपयुक्त होने से प्रयुक्त किया है,

श्लोक—देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम् ॥
प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः ॥ ५२ ॥

मूलार्थ—इसके अनन्तर वसुदेवजी श्री देवकी की शय्या पर लड़की को रखकर अपने पैरो में लोहे की बेढियों को डाल कर पहले की तरह बद्ध हो गये ॥४२॥

श्री सुबोधिनी—ततो देवक्या शयने तस्या अपि शय्यास्थानं कृत्वा तां स्थापयित्वा, अथेति भिन्नप्रक्रमे, यशोदाशयने तूष्णीं शनैरज्ञापयन्, अत्र तु तदभावः, दारिकां कन्यां, अनादरे दारिका, स्वयमेव पदोः पादयोर्लोहं प्रति-मुच्य पूर्ववदेव यदा भगवज्जन्म न जातं तदा यथा ॥५२॥

टिप्पण+—'उप' उपसर्ग 'उपवेद' 'उपाध्यापक' आदि शब्दों में निम्न कक्षा का सूचक है उसी प्रकार गमन के साथ भी उसकी निम्न कक्षा मन्दता का सूचक है ।

व्याख्यार्थ—(शयन) यद्यपि शय्या को कहते हैं परन्तु (शय्यापद) का प्रयोग अयुक्त+ हैं ऐसी आशङ्का कर (शयन) पद का प्रयोग किया है। अथवा श्री यशोदा के शयन करने पर उनके सोजाने पर, या श्री यशोदा जिस स्थान पर शयन करती थी उस स्थान पर शिशु को स्थापन कर भली भांति पधरा-कर श्री यशोदा की सुता माया को लेकर पुनः उसी मार्ग से अपने गृह आपहुँचे ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ—इसके पश्चात् देवकी की शय्या पर उस लड़की को शयन करने का स्थान सिद्ध कर उसे वहां स्थापित कर वसुदेवजी पूर्व की भांति निगडित हो गये, यहां पर (अथ) शब्द प्रक्रम की भिन्नता का सूचक है, श्री यशोदा की शय्या पर चुप चाप धीरे २ शिशु का स्थापन किया था क्योंकि वहां किसी को विदित न हो, यह आशङ्का थी, यहां उस प्रकम को बदल दिया है क्योंकि यहां उस प्रकार को कोई शङ्का नहीं है, (दारिका) शब्द से उसके अनादर को सूचना है, कि उस परम मनोहर पुत्र की स्मृति क्या इससे शान्त होगी, वसुदेवजी स्वयं ही अपने पैरों में लोह की बेढ़ीयों को डालकर भगवान् के जन्म से पूर्वकाल की भांति आबद्ध हो गये ॥ ५२ ॥

श्लोक—यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत ॥
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयाऽपगतस्मृतिः ॥ ५३ ॥

॥इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीकृष्णजन्मनामतृतीयोध्यायः ॥ ३ ॥

मूलार्थ—नन्द पत्नी यशोदा ने इतना ही जान पाया कि कुछ हुआ है, लड़के या लड़की का कोई चिन्ह नहीं पहिचान सकी क्योंकि प्रसव वेदना से अत्यन्त थक चुकी थी निद्रा ने उनकी स्मृति का अपहरण कर लिया था ॥ ५३ ॥

इति श्री भा. म. द. स्क. जन्म प्र० तृ० अध्याय श्लोकार्थः

श्री सुबोधिनी—अत्र यशोदायाः शयनं न सम्भवति, प्रसवे लोकेज्ञानासम्भवादित्याशङ्क्याह यशोदेति, यशो ददातीति प्रसवे ज्ञाते भर्तुः सुखं भवतीति, नन्दस्य पत्नीति, तादृशे समयेऽन्यदापि जागरणं जातकर्माद्यावश्यकत्वात् पत्नी भूत्वापि सावधानाऽपि, जातमेव परमबुध्यत न तु जातस्य लिङ्गं पुत्रः पुत्री वेति, यतः परिश्रान्ता प्रसवार्थं वेदना महती जाता, पश्चाच्छ्रान्ता यदा तदैव प्रसवो जात इति प्रसवेन सह निद्राऽपि जाता, तया कृत्वापगता स्मृतिर्यस्याः, मम प्रसवो जात इति पूर्वानुसन्धानं स्मृतिः, अतः पूर्वं वसुदेवकृतं सुस्थम् ॥ ५३ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे तृतीयाध्यायविवरणम् ॥ ३ ॥

टिप्पण— +पर स्त्री की शय्या का स्पर्श निषिद्ध है अतः (शय्या) पद का प्रयोग नहीं किया, और इसी अरुचि से शयन पद का भी प्रकारान्तर से व्याख्यान किया है ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ—यहां इस प्रकार आशङ्का करके उसके निवारणार्थ उक्त श्लोक को कहा है कि—यशोदा का शयन तो असम्भावित है क्योंकि लोक में प्रसव (अवस्था के होने पर अज्ञान का सम्भव नहीं) उक्त शङ्का की निवृत्ति करते हुए शुकदेवजी कहते हैं, कि नन्द पत्नी यशोदा इतना ही समझ सकी कि कुछ उत्पन्न हुआ परन्तु वह उत्पन्न हुआ स्वरूप पुत्र है या पुत्री है ऐसा नहीं जाना, उक्त श्लोक में यशोदा शब्द के द्वारा एवं उसके विशेषण (नन्द पत्नी) शब्द के द्वारा नन्द यशोदाओं के नाम की सार्थकता बतलाई है, यशोदा, प्रसव के ज्ञात होते ही पति को यश देती है कि तुम बड़भागी हो तुम्हारी साधना आज सिद्ध हुई, मेरा आपके द्वारा पाणिग्रहण सार्थक हुआ, चिरकाल तक लोक में नाम चलेगा आदि २, नन्दराय को भी प्रसव के ज्ञात होते ही सुख होता है अपार आनन्द होता है कि मेरा भर्ता होना आज सार्थक हुआ, अब इस भार्या के भरण करने में मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, इत्यादि भावनाओं से सुख होने के कारण उन्हें 'नन्द' पदवी प्राप्त होती है, अन्य अवसरों पर भी वैसे समय में बालक के जात कर्म आदि संस्कार आवश्यक कर्म होते हैं अतः जागना ही होता है, शयन का सम्भव नहीं, 'नन्द-पत्नी' शब्द के अन्तर्गत 'पत्नी' शब्द का प्रयोग स्त्री की एक विशिष्ट योग्यता का सूचक है उस योग्यता के आधार पर उसे पति के साथ पारलौकिक यज्ञादि कर्म में अधिकार प्राप्त होता है, अतः उसको प्रसव कालीन जात कर्मादि संस्कारों के लिये सावधान रहना आवश्यक है, श्री यशोदा श्री नन्द की पत्नी होकर भी सावधान होते हुए भी केवल इतना ही जान सकी कि जन्म+ हुआ, कोई बालक प्रकट हुआ, प्रकट हुए बालक का चिन्ह विशेष कि यह लड़का है या लड़की है ऐसा नहीं जान सकी, क्योंकि 'परिश्रान्त थी' प्रसव के निमित्त वेदना अधिक हो चुकी थी, पीछे जिस समय श्रान्त हुई (थक गई) उसी समय प्रसव हुआ कि उसके साथ ही निद्रा भी आगई, उस निद्रा से उसकी स्मृति लुप्त हो गई, मेरे प्रसव हुआ है इस प्रकार के पूर्व वृत्तान्त के अनुसन्धानात्मक स्मरण का अभाव हो गया, अतः पूर्व में वसुदेवजी का किया हुआ सब कुछ शिशु का स्थापन कन्या का उत्थापन आदि सुन्दर प्रक्रिया से सम्पन्न हुआ ॥ ५३ ॥

टिप्पण+ —भगवान् श्री कृष्ण की जयन्ती तिथि को जन्माष्टमी कहते हैं इस तिथि का यह नाम श्री कृष्ण की परब्रह्मता का परिचय देता है, 'रामनवमी' 'नृसिंहचतुर्दशी' आदि जयन्तीयों को 'जन्म नवमी' या 'जन्म चतुर्दशी' नहीं कहा जाता, इस आकस्मिक शब्द प्रवृत्ति से यदि इस प्रकार स्वीकार किया जावे कि जन्म प्रयुक्त विशेषता को लेकर उक्त (जन्माष्टमी) संज्ञा प्रचलित हुई है तो वह विशेषता अजन्मा परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण के जन्म से ही तो सम्बन्धित है, श्री यशोदा भी 'जातं परम बुध्यत, न तल्लिङ्गम्; धन्य श्री यशोदे ! उस परब्रह्म की कोई पहिचान नहीं आपने उसके जन्म को जान लिया या उसकी जन्म तिथि का नाम करण कर दिया ॥ श्री यशोदा स्तनन्धयाय नमः ॥

इति श्री भाः निरोध स्कं. जन्म प्रकरण रूपान्तर स्वीकार तृतीय अध्याय श्री सुबोधिनी व्याख्या का अनुवाद ।

तृतीय अध्याय

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	६	दृष्टडवलौकिक	दृष्टेऽप्यलौकिके
५	१०	कस	कंस
४	२४	दशन	दर्शन
६	१६	ढेना	देना
७	३	प्रदिशः से	दिशः प्रसे
८	८	एव	एवं
१३	४	मुान	मुनि
१३	१६	ऽ इपि	ऽ पि
१४	२४	श्लोकार्धं	श्लोकार्थं
१५	१६	पचम	पंचम
१६	२४	जायनामे	जायमाने
१७	१४	साण्या	साप्या
१७	१६	पुष्कल ऽः	पुष्कल
१७	१७	इन्दुरिवेत्येको	इन्दुरित्यको
१८	६	निमित्तीकृत	निमित्तीकृत्य
१८	१२	प्राचा	प्राची
१६	८	चतुर्भूजं	चतुर्भुजं
१६	११	शङ्क	शङ्ख
१६	१४	श्नर्यण	श्वर्येण
२२	१०	त्वाद्	त्वात्
२४	५	थिशेशण	विशेषण
२४	२३-२४	रसना ही	रसना से ही
३०	२४	भिविराचभानो	भिर्विरोचमाने
३१	१०	भ	भी
३२	२६	क्तिपंकी	पंक्ति की
३६	७	वाधक	बाधक
३६	१०	हासिति	हासीति
४१	२२	ससवं	ससर्वं
४३	२५	सृट्वा	सृष्ट्वा
४४	३,२१	एव	एवं
४४	२८	धिविक	धिदैविक
४८	५	वाधितः	बाधितः
४८	१३	दृरान्त	दृष्टान्त
४६	२	दिशन्येवं	दिशत्येवं
५१	८	स्वरुप	स्वरूप

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५१	१५,१६	ह्यभयविरुर्द्ध	ह्युभयंविरुद्धं
५२	१०	तङागे	तङागे
५३	१३	ता	तो
५४	२४	एव	एवं
५४	२६	सद्रूपता	सद्रूपता
५५	६	व्वा	व्या
५६	१६	सत्रानोतौ	सत्यप्रतीतौ
५६	२०	मत	मतं
५६	२२	रोषार्थं	रोपार्थं
५८	१	होताः	होती
५८	३	मूखं	मूर्खं
६०	१०	स्वय	स्वयं
६२	१	सवभर्वान	सर्वभवन
६२	१०	म्ं	में
६२	१६	भा	भी
६३	२४	कर्न्तृ	कर्तृ
६४	१६	रजागुण	रजोगुण
६४	२०	वण	वर्ण
६४	२३	चमुः	चमूः
६५	६	सङ्कषण	सङ्कर्षण
६६	२३	आपेक्षित	अपेक्षित
६७	५	स्मृतर्त	स्मृति
६७	७	कथ	कथं
६७	१४	भगवान	भगवान्
६७	१८	कस	कंस
६७	१६	नह	नहीं
६८	१	बेवक्यु	देवक्यु
६८	६	चोत्तवा	चोक्त्वा
६८	२०	कस	कंस
६८	२८	आदन	आदान प्रदानादि व्यवहार शून्य जीवन
६६	१३	गर्व	गर्व
७०	४	इद	इदं
७१	५	कारण	कारणं
७१	१२	सदश	सदंश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	२७	म्ें	में
७४	१७	ज्याति	ज्योती
७४	१७	स्वय	स्वयं
७७	२	एवामधि	एवमाधि
७७	४	सग्रह	संग्रह
७८	१,३	प्ररणा	प्रेरणा
७८	८	चष्टा	चेष्टा
७८	८	हा	ही
८०	४	काय	कार्य
८१	२०	मुख्य	मुख
८२	२	निभय	निर्भय
८२	४	तानो	तीनो
८२	२१	सत्सग	सत्संग
८३	१	तन्मध्येऽअन्य	तन्मवेऽन्य
८३	२३	भग	भंग
८४	२	प्राथनीय	प्रार्थनीय
८४	४	लौकिक	लौकिकं
८४	१४	सभावना	संभावना
८५	४	कस	कंस
८५	१०	स्वय	स्वयं
८६	५	का	की
८६	३	उपसहार	उपसंहार
८६	१४	धेर्य	धैर्य
८६	२६	कस	कंस
८८	११	लो१किक	लौकिक
८७	३,७	कस	कंस
८७	१६	सहरति	संहरति
८८	१२	सहर्तव्य	संहर्तव्यं
८८	१२	चतुष्टय	चतुष्टयं
८८	१६	ता	तो
८८	२५	धारश्च	घारण
८८	२६	तर्यो	त्यों
८६	७	हाना	होना
९०	३	ज्ञङ्का	शङ्का
९१	४	चतुदश	चतुर्दश
९३	१८	नीरित	निरत

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९४	६	सम्भोधन	सम्बोधन
९५	२	त्हृदि	हृदि
९६	१३	प्ररदुरासम्	प्रादुरासं
९७	१८–१९	स्त्रा परुषों	स्त्री पुरुषों
९९	१	तथाण्य	तथाप्य
९९	४	दृष्ट	दृष्ट्
९९	५	अदृष्ट्वा	अदृष्ट्वा
९९	१५	सवथा	सर्वथा
१००	१५	तृतीय	तृतीये
१०१	२९	पतिब्रता	पतिव्रता
१०२	८	सम्बाधन	सम्बोधन
१०२	१७	मुच्यमान	मुच्यमानं
१०२	२०	पदाथ	पदार्थ
१०३	५	पर	परं
१०३	१२	जिसके	जिससे
१०३	२१	मद्गति	मद्गतिं
१०३	२४	अधना	अधुना
१०४	१	हागा	होगा
१०४	१४	ही	हो
१०४	२४	यो	को
१०८	१	कृत्वानित्याहेत्यक्तवा	कृतवानित्याहेत्युक्तवा
१०८	८	हें	हैं
१०८	२६	देख	देखते
१०९	१५	स्वय	स्वयं
११०	१०	सकं	सकें
११०	१९	लागों	लोगों
१११	२६	स्वय	स्वयं
११२	२	प्रकृमान्तर	प्रक्रमान्तर
११२	६	येसु	येषु
११२	२५	भगमत्स	भगवत्स
११५	७	अत	अतः

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी

का

हिन्दी अनुवाद

दशम स्कन्ध : जन्म प्रकरण : चतुर्थ अध्याय

●

अनुवादक :

प० भ० पं० श्री आनन्दीलालजी शास्त्री

विद्या विभागाध्यक्ष, नाथद्वारा ।

●

प्रकाशक :

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल (रजि०)

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग, जोधपुर ।

●

सर्वाधिकार सुरक्षित

॥ हरिः ॥

सूरसागर सारावली

लै वसुदेव तुरत घर आये काहु जिय नहिं जान ।
जब वह रोवन लागी तब सब जाग परे अकुलाने ॥
बालक भयो कह्यो नृप सों जब दौरि कंस तब आयो ।
कर गह खडग कह्यो देवकि सों बालक कहं पहुंचायो ॥
तब देवकी अधीन कह्यो यह मैं नहिं बालक जायो ।
यह कन्या मोहि बक्स बीर तू कीजै मो मन भायो ॥
कंस बंस को नास करत है कहा समुझ रिस आयो ।
मोको भई अनाहद बानी तातें डर नहि जानी ॥
कन्या मांग लई तब राजा नेक शंक नहिं आनी ।
पटकत शिला गई आकासे कंस प्रतीत न मानी ॥
भई अकास बानी सुर देवी कंस यहा अब आई ।
तेरो शत्रु प्रगटव हुँ व्रज में काहु लख्यौ नहि जाई ॥
जैसे मीन करत जल क्रीडा जल में रहत समाई ।
त्यौं तुव काल प्रगट एक कतहूँ लख न सकत तेहि कोई ॥
अन्तरध्यान भई सुर देवी कंस प्रतीत जो मानी ।
तब वसुदेव देवकी के गृह वंस गयो यह जानी ॥
क्षम अपराध देवकी मेरो लिख्यो न मेट्यो जाई ।
मैं अपराध कियो शिशु मारे कर जोरे बिलकाई ॥
पुन गृह आय सेज पर सोयो नेकु नींद नहि आवे ।
देश देश के दूत बुलायो सबहिन मतो सुनावें ॥
दीन हीन जो असुर चढत बलि करत सकल पुनि तैसो ।
बूझत नहि तन भार उतारे व जल को मारवन जैसो ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

दशम स्कन्ध

श्री सुबोधिनी का सरल-सुबोध-हिन्दी अनुवाद

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय के पूर्व के तीन अध्यायों में क्रमशः हेतु, उद्यम तथा दूसरे रूप को स्वीकार करने का निरूपण है अर्थात् भगवान् किस हेतु से भूतल पर पधारे उस हेतु का निरूपण प्रथमाध्याय में है; भगवान् के भूतल पर पधारने के उद्यम का वर्णन द्वितीयाध्याय में है और चतुर्भुज से द्विभुजरूप को स्वीकार करना रूपान्तर स्वीकरण है इस का तृतीयाध्याय में निरूपण है। इस चतुर्थाध्याय में माया के कार्य का निरूपण होने से कापट्य का निरूपण किया जा रहा है और धर्म रक्षार्थ अनिरुद्ध-व्यूह का प्राकट्य भी इस में कहा गया है। जो किसी से रोका नहीं जावे वही अनिरूद्ध है और जो किसी से नहीं रूकता वही धर्म की रक्षा कर सकता है परन्तु धर्म रक्षण की तब ही आवश्यकता पडती है जब माया अधर्म का प्रसार करे। इसी अन्तिम बात का निरुपण नीचे की कारिका से किया जा रहा है।

मायायाः कार्यमधुना चतुर्थे विनिरूप्यते।
अन्यथा भगवत्कार्यं न भवेदनिमित्ततः ॥१॥
ज्ञापने दुःखसुखदे ततोऽपि ज्ञापने तथा।
कंसस्य सह भृत्यस्य धर्मबाधो न चान्यथा ॥२॥
तामसप्रभुक्ते राज्ये कृतो धर्मस्तु तद्गतः।
अतः पूर्वस्य नाशौ वै कर्तव्यस्तामसाश्च ते ॥३॥
ब्राह्मणा अपि तद्देशे स्वभावात् तामसा मताः।
कालस्तथा विधो यस्मात् पश्चाज्जातस्तु सात्त्विकः ॥४॥

इस चतुर्थ अध्याय में सब को दुःख देना, धर्म को नष्ट करना आदि जो माया के कार्य हैं उनका निरूपण करते हैं। यदि माया ऐसा कार्य नहीं करती तो देवकी को बन्धन से छुडाना, सबको सुख देना,

तथा धर्मरक्षा आदि कार्यों के करने के लिये भगवान् के पधारने की आवश्यकता नहीं होती। अतः भगवान् के कार्यों में भक्तों को दुःख देना आदि माया के कार्य ही कारण हैं अर्थात् माया यदि कंस द्वारा भक्तों को दुःख दिलाना आदि कार्य न करती तो भगवान् का उपर्युक्त कार्य भी नहीं होता ॥१॥

माया ने रुदन कर के द्वारपालों को यह बताया कि मैं उत्पन्न हो गई हूं। इस के पश्चात् गृह रक्षकों ने भी कंस को बालक का जन्म होना बताया। ये दोनों बातें दूसरी कारिका के प्रारभ में आये प्रथमा द्विवचनान्त "ज्ञापने" पद से बताई गई है अर्थात्, 'ज्ञापने" यह पद प्रथमा द्विवचनान्त है। अत एव माया का अपने आप को बताना और कंस को रक्षकों द्वारा सूचित कराना, ये दो कार्य माया के कहे गये हैं। माया के ये कार्य वसुदेवादि को दुःख देने वाले और कंस को सुख देने वाले हुए। बाद में माया ने "तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया है" ऐसा कहा और इसी बात को कंस ने अपने मन्त्रियों को बताया। यह बात कारिका में आये दूसरे "ज्ञापने" पद से कही है। ये दोनों कार्य भी भक्तों को दुःख देने वाले और कंसादि को सुख देने वाले हुए। यदि माया यह कार्य नहीं करती तो कंस और उस के सेवक धर्मनाश के लिये उद्यत नहीं होते ॥२॥

शंका होती है कि भगवान् का अवतार तो धर्मरक्षा के लिये होता है तो यह अवतार धर्मनाश में कारण कैसे बना ? क्योंकि भगवान् के प्राकट्य के भय से ही कंस ने ये सब पाप किये इस लिये भगवान् का प्राकट्य ही इस अधर्म में कारण हुआ किन्तु यह होना उचित नहीं था। ऐसी आशंका पर कहते हैं कि कंस तामस वृत्ति का था अतः उस के राज्य में पशु आदि तथा उन से होने वाले यज्ञादि धर्म सब ही तामस थे। इस कारण उनका नाश कराना आवश्यक था ॥३॥

यज्ञादि धर्म संपादन में अंग भूत जो ब्राह्मण थे वे भी उस प्रदेश में स्वभावतः तामसवृत्ति के थे तथा वह समय भी तामस था। अतः कंस के द्वारा निवृत्ति कराने के अनन्तर जो धर्म स्थापित किया गया वह सात्विक धर्म हुआ ॥४॥

श्री सुबोधिनी : = भगवत्कार्यवैपरीत्यं मायाकार्य इति ज्ञापयितु–मुद्घाटितकपाटानां द्वाराणां पुनः पिधानमाह।

(हिन्दी अनुवाद) = भगवान् का कार्य आवरणों को दूर करना एवं बन्धन से मुक्त करना है इस लिये सब द्वार खुल गये और वसुदेवजी बन्धन मुक्त हो गये। माया का कार्य भगवान् से विपरीत होता है अर्थात् माया धर्म का नाश करती है और बन्धन में डालती हैं तथा आवरण को उत्पन्न करती है, इसी लिये माया के आने से आवरणरूप बाहर भीतर के द्वारों के किंवाड बन्ध हो गये और वसुदेवजी पहिले की भांति बन्धन में पड गये। इस बातको नीचे के श्लोक में कहते हैं।

। श्रीशुक उवाच ।

श्लोक—बहिरन्तः पुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः ।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥१॥

अर्थ = श्री शुकदेवजी कहते हैं कि जब वसुदेवजी लौट आये तब मथुरा नगर के बाहिर तथा भीतर के सभी दरवाजे पहिले की तरह बन्ध हो गये। बालक के रोने को सुन कर उसमें प्रसूतिगृह के रक्षक ठीकरूप से जाग गये ॥१॥

श्री सुबोधिनी = बहिरन्तरिति । पुरो बहिर्द्वाराण्य वान्तर्द्वाराणि च सर्वाः पूर्ववदेवावृताः ; वैलक्षण्ये रक्षकाणां ज्ञान–संभवाज् ज्ञानं भवेदिति पुनर्बन्धनं मायाकार्यमुक्त्वा पूर्वं वसुदेवदेवक्योर्निवृत्तस्यापि भयस्य जननार्थं रोदनमपि कृतवती, तेन रोदनेन सर्वेषां जागरणं जातमित्याह तत इति, बालस्योत्पन्नस्य ध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः सूतीगृहरक्षकाः सम्यगुत्थिताः ॥१॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = माया के आने पर मथुरा नगरी के बाहिर एवं भीतर के सभी दरवाजे पूर्ववत् बन्द हो गये। यदि गृहपालों के जागने तक किंवाड खुले ही रहते और वसुदेवजी बन्धनमुक्त पाये जाते तो द्वारपालों को विलक्षणता मालूम पडती और वे यह समझ जाते कि वसुदेवजी ने ही गुप्त–रूप में कुछ गडवडी की है इसलिये माया ने पुनः पहिले को स्थिति उत्पन्न करदी। भगवान् के प्राकट्य से, पूर्व में निवृत्त हुए वसुदेवजी देवकीजी के भय की पुनः उत्पन्न करने के लिये ही माया ने रोदन किया। उस के रोदन से सब प्रसूतिगृह के रक्षक द्वारपाल जाग गये, यह श्लोक में आये "ततः" पद से कहा है। यहां "ततः" पद का "इस के अनन्तर" यह अर्थ नहीं है किन्तु "उस रोदन से" ऐसा अर्थ है अर्थात् उत्पन्न हुए बालक के रोदन से प्रसूति–गृह के रक्षक ठीक रूप से जाग गये ॥१॥

श्लोक—ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत् ।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते ॥२॥

अर्थ = वे द्वारपाल शीघ्र कंस के पास गये और आठवें गर्भ ने जन्म ले लिया यह कहा। कंस यही प्रतीक्षा कर रहा था कि बालक का जन्म कब होगा प्रतीक्षा में कारण यह था कि वह उससे उद्विग्न (व्याकुल और घबड़ाया हुआ) था ॥२॥

श्री सुबोधिनीजो = तेषां कृत्यमाह ते त्विति, देवक्यादिभिः प्रार्थिता अपि तत्प्रार्थनां न कृतवन्त इति ज्ञापनार्थस्तु शब्दः, तूर्णमिति मध्ये कृत्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं, दूरात् कथने निलायनादिकं संभविष्यतीति तन्निवृत्यर्थं उपव्रज्य इति उक्तम्, देवक्या गर्भस्य जन्म, न तु पुत्रः कन्यका वेतिभेदः, तदिति, सिद्धमष्टमं, अकथनेऽनिष्टं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं भोजराजायेत्युक्तम्, यज् जन्म प्रतीक्षत एव कदा भविष्यतीति, अर्थादेतादृशाय, प्रतीक्षायां हेतुमाहोद्विग्न इति ॥२॥

दिन्दी व्याख्यार्थ = "ते तु" श्लोक से द्वारपालों के कार्य को कहते हैं। उस समय उन रक्षकों को देवकी आदि ने प्रार्थना की कि तुम जाकर कंस को न कहो परन्तु उन ने उनकी प्रार्थना को न माना और कंस को कह ही दिया; यह आशय श्लोक में आये "तु शब्द" से कहा गया है अर्थात् उन द्वारपालों ने तो कह ही दिया। श्लोकस्थ "तूर्णं" पद का यह अभिप्राय है कि रक्षकों ने बीच में दूसरा कोई कार्य नहीं किया और शीघ्रता से जाकर कहा कि देवकी के गर्भ का जन्म हो गया है। रक्षकों ने विचार किया कि यदि हम दूर से ही कहेंगे तो वसुदेवजी व देवकी अपने बालक को संभव है छिपा दें, इसलिये कंस के समीप में जाकर उन्होंने कहा। रक्षकों ने कन्या या बालक का विशेष निर्देश नहीं करते हुए यही कहा कि देवकी के सन्तान हो गया। श्लोक में आया "तत्" पद प्रसिद्धार्थक है अर्थात् "प्रसिद्ध आठवें सन्तान ने जन्म ले लिया" यह बात कंस को कही। श्लोक में आये "भोजराजाय" पद का अभिप्राय यह हैं कि वह कंस भोजवंशियों का राजा है। राजा की आज्ञा का पूरा पालन नहीं होता है तो वह दण्ड देता हैं। इस लिये रक्षकों ने सोचा कि यदि हम ने राजा को सूचना नहीं दी तो कंस, राजा होने से हमें दण्ड देगा। इसी भय के कारण बालक के जन्म की सूचना कंस को, जो इस संवाद की प्रतीक्षा ही में था, दी। प्रतीक्षा का कारण यह था कि वह उस गर्भ से उद्विग्न था ॥२॥

श्लोक—स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः।
सूतीगृहमगाच्छीघ्रं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः ॥३॥

अर्थ = द्वारपालों की बात सुनते ही शीघ्रता से कंस शय्या से उठ खड़ा हुआ और "मेरा काल पैदा हो गया" इस विचार से विह्वल हो कर लडखडाता हुवा केश बिखरे हुए ही प्रसूतिगृह की ओर शीघ्रता से गया।

श्री सुबोधिनी = ततः कंसस्य कृत्यमाह, सोऽपि शय्यायां पतित एव स्थितः स महानपि तल्पाच् छय्यातस्तूर्णमविचारेण प्रथमतः उत्थितः, पश्चात् कालोऽयमिति विह्वलः, अतः परं जीवसंभावना नास्तीति निश्चयात्, अयं भगवानेव कालो मृत्युदः, विह्वलः सर्वावयवविकल, सूतिगृहं

प्रसूतिस्थानं, शीघ्रमिति सर्वकार्यपरित्यागे सर्वसाधनाननुसंधाने हेतुः, प्रस्खलन्निति मार्गाज्ञानं, मुक्तमूर्धज इति देहाज्ञानम् ॥३॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = अब कंस ने क्या किया सो कहते हैं कि कंस निद्रा न आने से वैसे ही शय्या पर पडा हुआ था। महान् होता हुआ भी वह बिना विचार किये ही पहिले खडा हुवा और पीछे यह मेरा काल है ऐसा समझ विह्वल हो गया। उसे निश्चय हो गया कि अब मेरे जीवित रहने की संभावना नहीं है। यह भगवान् ही मेरा काल है ऐसा समझ कर सर्वाङ्ग में विकल हो गया और प्रसूतिगृह की ओर दौडा। श्लोक में आये "शीघ्रं" पद का आशय यह है कि शीघ्रता से जाने के कारण कंस ने सब कार्यों का परित्याग किया और उसे किसी उपाय का भी अनुसन्धान नहीं रहा। लडखडाता हुआ गया ऐसा कहने से मालूम हुआ कि उसे मार्ग का ज्ञान नहीं रहा। केश बिखरे हुवे थे ऐसा कहने से मालूम हुआ कि उसे देह का भान नहीं था ॥३॥

श्री सुबोधिनी = दृष्ट्वा, लिङ्गमज्ञात्वा पुत्रबुद्धयैव मारणार्थं प्रवृत्तौ यशोदायाः कन्यायाः मारणं स्वपुत्रमारणादप्यधिक-दुःखदं जातमिति ज्ञापयितुं तस्या वाक्यमाह तमाहेति त्रिभिः।

हिन्दी व्याख्यार्थ = कंस वहां गया और यह बालक है या कन्या है इसका विशेष ज्ञान न करता हुआ पुत्र समझ कर मारने के लिये प्रवृत्त हुआ तो देवकी जी को अपने पुत्रों के मारने का जितना दुःख नहीं हुआ उतना, श्री यशोदाजी की कन्या होने से उसे मारने का दुःख हुआ इस बात को बताने के लिये देवकी के वाक्यों को तीन श्लोकों से कहते हैं:—

श्लोक—तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।
स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

अर्थ = उस कंस से बिना विचार किये ही मांगने वाली वह देवकी देवी करुण की तरह अपने भाई से बोली कि हे भाई! यह कन्या तेरी पुत्र वधु होगी इसलिये, और स्त्री जाति की होने से तुझे इसे मारना ठीक नहीं है ॥ ४ ॥

कारिका = त्वदीया कन्यका चेयमतो मह्यं प्रदीयताम्।
भगिनी दानपात्रं हि हेतुकार्यफलैस्त्रिभिः ॥ १ ॥

श्री सुबोधिनी = तं कंसं भ्रातरमाह, यतो देवी सात्त्विक्यपि स्त्री, ज्ञात्वा वा दैन्यप्रदर्शनार्थं तथा कृतवतीति, असत्यमपि प्राणसंकटे परार्थं वक्तव्यमिति ज्ञापनार्थं वा, कृपणानालोचितयाचिका। 'कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचित याचक' इति वाक्यात्; करुणं यथा भवति तथा तमाहेति सम्बन्धः, सतीति कालज्ञानाद् याचनं, सर्वात्मकत्वाद् भगवतस्तथा करिष्यति, भर्तुर्दोषनिवृत्त्यर्थं वा सतीति, अन्यथा स्वपुत्रं स्थापयित्वा परकन्यामारणे दोषः स्यात्, स्नुषेति, मातुलकन्या परिणयनपक्षे पितृष्वसुरपि कन्या परिणेया यथा मित्रविन्दा, यदा कंसस्य पुत्रो देवकी कन्या मुद्वहेत् तदेयं स्नुषा भवति, अनेन तस्याः स्वकन्यात्वं सहजमित्युक्तम्, ननु पुत्र एव नास्ति कथमियं स्नुषेति चेत् तत्राह कल्याणेति, त्वं पुत्रजननसमर्थः, मदपत्यरक्षणेन तवापि पुत्रो भविष्यतीति, अथवा मास्तु स्नुषा, स्त्रियं हन्तुं मार्हसि, अन्यथाहमेव कथं न हता ? "स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोय" मिति यतस्त्वयैव निरूपितम् ॥ ४ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = देवकी पहिले श्लोक में यह कहती है कि तेरी यह कन्या है अर्थात् भविष्य में तेरे लड़के की स्त्री होने से तेरी यह कन्या के समान है इसलिये इसे तू मुझे दे दे क्योंकि बहिन दान का पात्र है अतः उसे देना ही चाहिये। यह बात यहां तीन श्लोकों में कही है अर्थात् "तमाह भ्रातरं देवी" से तुझे पुत्रवधू रूप फल प्राप्त होगा; "पुत्रिकैका प्रदीयतां" इस दूसरे श्लोक के अंश से दान रूप कार्य का निरूपण "नन्वहं ते ह्यवरजा" से किया है। शंका होती है कि पहिले के श्लोक में फल का निरूपण है, दूसरे श्लोक में दान रूप कार्य का और तीसरे श्लोक में हेतु का निरूपण है तो कारिका में भी उसी रूप में फल, कार्य और हेतु का निर्देश होना चाहिये, फिर ऐसा क्यों नहीं किया गया ? इसका समाधान यह किया है कि लोक में देखा गया है कि पहिले कारण होता है फिर कार्य और तत्पश्चात् फल। बस इसी प्रसिद्धि को लेकर कारिका में "हेतुकार्यफलैः" ऐसा कहा है। उस प्रसिद्ध, क्रूर अपने भाई कंस को देवकी जी ने कहा। देवकी यद्यपि देवी रूप है अर्थात् देवता रूप है, देवता सात्त्विक[1] होते हैं, सत्त्वगुण से "सत्त्वात् संजायते ज्ञान" के अनुसार ज्ञान होता है इसलिये देवकी ज्ञानवती भी है परन्तु स्त्री स्वभाव वश, उसने कन्या को कंस से मांगा। शङ्का होती है कि ज्ञान जिसमें होता है उसमें वैराग्य भी होता है तो फिर देवकी जी का उस कन्या में इतना मोह क्यों है ? तो कहते हैं कि स्त्री स्वभाव होने से देवकी जी ने ऐसा किया क्योंकि "स्वभावो मूर्ध्निवर्तते" अर्थात् स्वभाव सबके ऊपर रहता है अतः स्त्री स्वभाव के अधीन होकर ऐसा किया। स्त्री में स्वभावतः अधिक मोह होता है। देवकी देवी (देवता) है इसलिये उसे सब उपायों का ज्ञान है, वह यह समझती है कि कंस अत्यन्त उग्र है इसलिये "उग्रं स्तुतिभिः" उग्र व्यक्ति को प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस न्याय के अनुसार हीनता दिखाते हुए

---

[1] यहां लल्लू भट्ट जी ने कहा है कि देवता सात्त्विक होते हैं अतः उनमें स्वभावतः दया होती है। दयावश ही श्री यशोदाजी की कन्या को छुड़ाने के लिये देवकी जी ने कहा "सात्त्विक्यपि स्त्री" इसमें जो "अपि" शब्द है उसका तात्पर्य यह है कि स्त्री होने से तामस भी थी अतः देवकी ने यह मेरी अन्तिम सन्तान है ऐसा मिथ्या कहा।

इसे प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस विचार से जानबूझ कर भी उस देवकी ने कन्या को छुड़ाने के लिये अपनी हीनता दिखाई। यहां यह शका होती है कि देवकी देवी होने से देवता थी उसे तो मिथ्या नहीं बोलना चाहिये था क्योंकि "सत्यं देवेषु" देवताओं में सत्य की स्थिति है ऐसा कहा है। ऐसी दशा में देवकी ने "यह मेरी अन्तिम सन्तान है" यह मिथ्या कैसे कहा तो कहते हैं कि किसी के प्राणों पर संकट हो तो परार्थ मिथ्या बोलना निन्दित नहीं ह। इस लिये देवकी जी ने मिथ्या कहा सो ठीक किया। श्लोक में आये "कृपणा" पद का अर्थ बिना विचारे मांगने वाली है, जेसा कि कहा है "कृपणः स तु ज्ञेयो योऽनालोचित याचकः" कृपण वह होता है जो यह नहीं समझता कि किस से याचना करनी चाहिये और किससे नहीं। देवकी ने कस के स्वरूप को न समझ याचना की इसलिये वह कृपणा हुई। इस प्रकार कंस के स्वरूप को न जानने वाली वह देवकी करुण हो जैसे कस से बोली। देवकी सती थी इस लिये उसे यह ज्ञान था कि मैं क्षत्रिया हूँ, क्षत्रिय को याचना नहीं करनी चाहिये तो भी यह याचना का समय है इस लिये मुझे याचना करनी ही चाहिये; यदि मेरी याचना पर भगवान् के सर्वात्मक होने से कदाचित् भगवान् कंस को कन्या देने के लिये प्रेरित करदे तो कंस का अनिष्ट कभी भी नहीं होगा अथवा सती पद का यह भी अभिप्राय है कि देवकी सत् स्त्री है। जैसे सत्पुरुष अनिष्ट करने वाले का भी हित चाहते हैं वैसे ही देवकी सत्स्त्री होने से सोचती है कि यदि कंस को भगवान् कन्या देने के लिये प्रेरित कर दें तो कंस का भी अनिष्ट न हो। यहां "सती" पद का यह भी अभिप्राय है कि सती स्त्री पति का इष्ट ही चिन्तन करती है इस लिये उस ने विचार किया कि यदि मैं कंस से कन्या को छुडाने का आग्रह नहीं करूंगा तो लोग मेरे पति वसुदेवजी को यह दोष लगायेंगे कि वसुदेवजी कैसे व्यक्ति हैं जो अपने पुत्र को तो रख आये और मारने के लिये दूसरे को कन्या को ले आये। देवकी ने आग्रह पूर्वक जब कन्या को छुडाने का प्रयत्न किया तो वसुदेवजी को उक्त दोष नहीं लगा क्योंकि ऐसी स्थिति में विवशता मालूम पडी। यहां "स्नुषा" पद का तात्पर्य यह है कि मामा की लडकी के साथ जैसे विवाह करने का पक्ष है वैसे ही भूआ की लड़की के साथ। जैसे भगवान् ने मित्रविन्दा के साथ विवाह किया परन्तु यह सब कुछ तब ही हो सकता है जब कस का पुत्र देवकी की कन्या के साथ विवाह करे। कंस के पुत्र नहीं है तो ऐसा सम्बन्ध न बनने से देवकी की कन्या कंसकी स्नुषा (पुत्रवधू) कैसे होगी तो देवकी कहती है कि हे भाई ! तूं कल्याण रूप है अतः पुत्र पैदा करने में समर्थ है क्योंकि कल्याण रूप होने से तेरे पुत्र अवश्य होगा और एक बात यह भी है कि मेरी सन्तान की यदि तूं रक्षा करेगा तो तेरे भी पुत्र अवश्य होगा। यदि तूं समझे कि यह मेरी पुत्रवधू नहीं होगी तब भी यह स्त्री जाति की होने से मारने योग्य नहीं है। ऐसा तुझे विचार है भी; यदि ऐसा विचार न होता तो मुझे ही तूं ने क्यों न मार दिया। तूं ने स्वयं कहा है कि "स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयम्" अर्थात् प्रथम स्त्री जाति को ही मारना उचित नहीं है आदि ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी = अष्टमो मारणीय इति चेत्तत्राह

अर्थ = यदि तूं कहे कि आठवां बालक मुझे मारना है तो देवकी कहती है कि—

श्लोक—बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः।
त्वया दैवविसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम् ॥ ५॥

अर्थ = हे भाई। मेरे अग्नि के समान बहुत पुत्रों को तूं ने भगवदिच्छा से प्रेरित हो कर मार दिया परन्तु यह एक कन्या जिस के कोई भाई नहीं, शेष रही है इसे मुझे दे अर्थात् इसे न मार ॥ ५ ॥

श्रीसुबोधिनी = बहवो हिंसिता भ्रातरिति, स्त्रिया मारकत्वं शास्त्रे न सिद्धं, पुत्रास्तु हता एव, यद्यप्येक एव मारणीयस्तत्स्थाने बहवो हताः, भ्रातरिति संबोधनं दयार्थं, आकृत्या पराक्रमोऽपि तेषु संभाव्यते इति तदर्थमाह पावकोपमा इति, स्नेहे त्यक्ष्यतीति तस्य दोषाभावमाह त्वया दैवनिसृष्टेन इति, "अनुरक्तो गुणान् ब्रूत" इति वाक्यात्, दैवेन भगवदिच्छया प्रेरितेन भवता पुत्रा हताः, एषा तु अवध्येति दैवेन न प्रेर्यत इति भावः, एकेयं पुत्रिकाभ्रातृमतीतीमामप्यन्ततो गत्वा पुत्रिकाधर्मेण दत्त्वा ससन्ताना भविष्यामीति ज्ञापयत्येकेति, यद्यपरोत्पत्स्यते, तदा मारणीयेति ज्ञापितं, प्रकर्षेण दीयतामिति कालान्तरेप्यमारणीया ॥ ५ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = देवका कहती है कि हे भाई। तूं ने मेरे बहुत लड़के मारदिये, यह सन्तान स्त्री जाति है, स्त्री, पुरुष को मार सकती है ऐसा शास्त्र में नहीं बताया है अथवा शास्त्र में स्त्री को मारना नहीं कहा है, पुत्रों को तो तूं ने मार ही दिया। एक आठवें पुत्र को मारना चाहिये था उस जगह बहुत लड़के मार दिये। देवको ने हे भाई। ऐसा इस लिये कहा है कि मैं तेरी बहिन हूँ इस लिये मेरे पर दया करनी चाहिये। जिन सन्तानों को तूं ने मारा था वे साधारण नहीं थे किन्तु आकृति से संभावना थी कि वे पराक्रमी भी होते इस आशय से कहा कि "पावकोपमाः" वे पुत्र अग्नि के समान थे। देवकी ने विचार किया कि स्नेह दिखाने पर इस कन्या को छोड़ देगा इस लिये कंस को निर्दोष बताती हुई कहती है कि "त्वया देवनिसृष्टेन"। शास्त्र में कहा है कि "अनुरक्तो गुणान् ब्रूते" जो अनुरागवाला होता है वह सामने वाले व्यक्ति के गुण ही कहता है। इस के अनुसार प्रेम दिखाने के लिये देवकी ने कहा कि तूं ने अपनी इच्छा से मेरी सन्तान को नहीं मारा है किन्तु भगवदिच्छा से प्रेरित हो कर मारा है परन्तु यह कन्या तो मारने योग्य नहीं है इस लिये भगवान् की इच्छा भी तुझे मारने के लिये प्रेरित नहीं कर रही है। मेरी एक ही यह कन्या है। "पुत्रिकैका" पद से यह सूचित किया कि इस के कोई भाई नहीं है इस लिये इस का विवाह इस प्रतिज्ञा पर करूंगी कि जो इस का लड़का होगा वह मेरा होगा, ऐसा करने से मैं भी सन्तानवाली हो जाऊँगी, यदि मेरी दूसरी सन्तान हो जावेगी तो तूं इसे मार

देना । वास्तव में "प्रदीयताम्" पद से देवकी का यह कहना है कि मुझे सदा के लिये यह लड़की दे दे अ र्त् यह लड़की सदा के लिये मारने योग्य नहीं हैं ॥ ५ ॥

श्रीसुबोधिनी = अवश्यदाने हेतुमाह ।

अर्थ = तुझे इसे अवश्य देना चाहिये इसमें कारण बताती है कि—

श्लोक—नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो ।
दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम् ॥ ६ ॥

अर्थ = हे प्यारे समर्थ भाई । युक्ति के साथ कहती हूँ कि मैं तेरी छोटी बहिन हूँ, मेरे लड़के मर गये हैं इस लिये दुःखित हूँ अतः इस अन्तिम सन्तान को दे दें ॥ ६ ॥

श्रीसुबोधिनी = नन्वहमिति, अवश्यं दानमेव फलं नन्विति संबोधनं युक्तिग्रहणार्थं अहं ते ह्यवरजा इति, अवरजत्व उभयानुभवः प्रमाणं, अवरजा दयापात्रं, दीना दुःखिता शोकादिना, तत्र हेतुर्हतसुतेति, प्रभो इति संबोधनं दानसामर्थ्यद्योतनार्थं, अत एव दातुमर्हसि, मन्दाया इत्यतः परं रजोऽभावः सूचितः, अतश्चरमां प्रजामिमामिति, अन्या कन्यात्वेन न देयेयमेव देया इति ॥ ६ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = इसे दे देने पर तुझे अवश्य दानरूप फल होगा । यहां "ननु" यह सम्बोधनार्थक है । इस से देवकी यह बता रही है कि तू मेरी युक्ति को समझ । "ननु" पद वहां आता है जहां युक्ति दिखानी होती है इसलिये यहां "ननु" सम्बोधनार्थक होता हुआ भी युक्ति को सूचित करता है । निश्चय ही मै तेरी छोटी बहिन हूँ, इस में तेरा और मेरा अनुभव ही प्रमाण है अर्थात् तू और मैं यह जानते हैं कि तू बड़ा भाई है और मैं छोटी बहिन हूँ । छोटी बहिन होती है वह दया योग्य होती है, मैं शोक आदि से दुःखित हूं, कारण यह है कि मेरे पुत्र मार दिये गये हैं, तू प्रभु (समर्थ) होने से दान देने में समर्थ है, अतःएव तू देने योग्य है । "मन्दायाः" पद से सूचित किया कि मैं मन्दभाग्या हूं इसलिये अब मैं रजस्वला भी नहीं हूंगी से सन्तान की संभावना हो । अतः इस अन्तिम सन्तान को तू मुझे दे, दूसरी कन्या न दे कर यही कन्या दे ॥ ६ ।

श्रीसुबोधनी = तथापि न त्यक्तवानित्याह ।

अर्थ = इतना कहने पर भी कंस ने कन्या को नहीं छोड़ा इस बात को अब कहते हैं ।

श्लोक—उपगूह्यात्मजामेवं रुदन्त्या दीनदीनवत् ।
याचितस्ता विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः ॥ ७ ॥

अर्थ = इस प्रकार लड़की को छिपा कर अत्यन्त दीन की तरह विलाप करती हुई देवकी को झिडक कर कंस ने उस के हाथ से कन्या को छीन लिया, झिडका इस लिये कि उस ने याचना की थी ॥ ७ ॥

श्रीसुबोधिनी = उपगूह्येति । एवमात्मजामुपगूह्य विलापनपूर्वकं रुदन्त्या हस्तात् तां बालामाचिच्छिदे देवकीं निर्भर्त्स्य, विनिर्भर्त्सने हेतुस्तां याचितः सन्, आत्मजामिति, आत्मनो भगवतः सकाशाज्जातां, "व्यवहारे शब्दाः परमार्था एव" इति न्यायाद्, देहादावत्मशब्दवदात्मजशब्दोऽपि पुत्रत्वेन परिग्रहमात्रत्वेऽपि वक्तुं शक्यते, दीनादपि दीना यथा दैवहता पुत्रभर्त्रादिरहिता व्याधिग्रस्तापि भवति सा दीनदीना तथेयं स्वपुत्रनाशं दृष्टवती परापत्यनाशमपि यश्यतीति, हस्तादिति, एकेन हस्तेन तस्या एकं हस्तं धृत्वा द्वितीयेन तस्या द्वितीयहस्तादाचिच्छिदे, एवङ्करणे हेतुः खल इति ॥ ७ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = इस प्रकार लड़की को छिपा कर विलाप करती हुई देवकी को झिडक कर कंस ने उस के हाथ से कन्या को छीन लिया । झिडका इस लिये कि उस ने मांगा था । श्लोक में आये "आत्मजां" पद का अर्थ अपने से पैदा हुई लड़की है परन्तु यहां शंका होती है कि देवकी यह नहीं समझती थी कि यह मेरी लड़की है और श्री शुकदेवजी सर्वज्ञ थे इस लिये वे भी इसे देवकी की कन्या नहीं समझते थे तो फिर श्लोक में "आत्मजां" यह कैसे कहा । इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये आत्मजा शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् से उत्पन्न हुई इस कन्या को ऐसा यहां "आत्मजां" पद का अर्थ है अर्थात् आत्मन् शब्द से यहां भगवान् अर्थ समझा जाता है जैसा कि कहा है "व्यवहारे शब्दाः परमार्था एव" व्यवहार में आने वाले शब्द अपने मुख्य अर्थ का परित्याग नहीं करते । "आत्मा" शब्द का मुख्य अर्थ भगवान् है इस लिये यहां आत्मजा शब्द का अर्थ "भगवान् से उत्पन्न हुई कन्या" है । यहां कहते हैं कि श्रीशुकाचार्य का ऐसा अर्थ करने में कोई प्रयोजन नहीं था इस लिये ऐसा अर्थ मानना ठीक नहीं है तो दूसरे पक्ष को ले कर कहते हैं कि जैसे देह इन्द्रिय आदि में आत्मा शब्द का प्रयोग लोग करते हैं ऐसे ही पुत्र मान लेने पर तथा दत्तक लेने पर आत्मजत्व न होने पर भी आत्मज शब्द का प्रयोग होता है, वैसे ही यहां आत्मजा शब्द का प्रयोग हुआ है । श्लोक में आये "एव" पद से यह सूचित किया कि देवकी ने इस प्रकार के वाक्य अनेक वार कहे । रोदन इस लिये किया कि यह यशोदाजी की कन्या मेरे कारण मारी जा रही है । कंस को कहने के समय देवकी दीनातिदीन थी । जैसे कोई भाग्यहीन होने से पुत्रादि मर जाय तो दीन होती है और वही रोगग्रस्त हो जाने पर अतिदीन बनजाती है इसी प्रकार अपने पुत्रों के मर जाने से देवकी दीन तो थी ही उस पर भी जब दूसरे की सन्तान को मारता देखा तो वह अत्यन्त दीन हो गई । कंस ने एक हाथ से देवकी के एक हाथ को पकड़ा

और दूसरे हाथ से कन्या को देवकी के हाथ से छीना। कंस ने ऐसा क्यों किया तो कहते हैं छि वह दुर्जन था। खल को बुरे कार्य का कोई खयाल नहीं होता ॥ ७ ॥

श्रीसुबोधनी = गृहीत्वा यत्कृतवांस्तदाह ।

अर्थ = कस ने कन्या को छोन कर जो कुछ किया सो कहते हैं ।

श्लोक—तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम् ।
अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः ॥ ८ ॥

अर्थ = नाल आदि से युक्त अर्थात् नवजात अपनी भानजी के पैर पकड़ कर कंस ने उसे शिला पर पटक दिया क्योंकि उस ने स्वार्थ वश सौहार्द का बिलकुल परित्याग कर दिया था ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी = तां गृहीत्वेति, चरणयोरिति, मारणार्थमेव, विपरीततया ग्रहणमात्रेणैव तस्या नाशः सूचितः, जातमात्रामिति, नालादिसहितां, अतिकोमलत्वप्रदर्शनेन तस्य "खल" त्वंसमर्थितं, स्वसुः सुतामिति सर्वथा विरूद्धकर्तृत्वमुक्तं, अपोथयत् प्रक्षाल्यमानवस्त्रमिव प्रक्षिप्तवान्, शिलाऽङ्गनस्था यथा स्नानार्था भवति, ननु सौहार्द मुभयविषयकं कथं त्यक्तवानित्याह स्वार्थोन्मूलित सौहृद इति, स्वार्थमुन्मूलितं सौहृदं येन ॥ ८ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = कंस ने कन्या के पैर पकड़े। मारने के लिये ही उसने पैरों की तरफ से पकड़ा। कंस के इस रूप में पकड़ने से स्पष्ट सूचित हुआ कि मारने के लिये ही उसे पकड़ा है। उस के नाल आदि भी नहीं काटे गये थे इस से उस लड़की की अत्यन्त कोमलता बताई गई। अत्यन्त कोमल बालिका के मारने से यह सिद्ध होता है कि कंस कितना दुष्ट था। कन्या भी बहिन की थी इस से उसे मारना सर्वथा अनुचित था। इस से स्पष्ट हुआ कि कंस कितना बुरा कार्य करने वाला था। धोने के कपड़े को जैसे पत्थर पर पछाटा जाता है वसे ही कन्या को शिला पर पछाटा। आंगन में रखी हुई शिला स्नान के लिये होती है, उस पर पछाटा। यदि कहें कि कंस बहिन एवं कन्या में सौहार्दयुक्त था तो फिर ऐसा अयुक्त काम कैसे किया तो कहते हैं कि स्वार्थवश उसने सौहार्द को बिलकुल तिलाञ्जलि दे दी थी ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी = ततो यजातं तदाह ।

अर्थ = तत्पश्चात् जो हुआ सो कहते हैं ।

श्लोक—सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता ।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥ ९ ॥

अर्थ = वह कन्या उस कंस के हाथ उछल कर सद्यः देवतारूप बन गई और आकाश में स्थित हो गई। ऐसी बात वह कन्या इस लिये कर सकी कि व्यापक श्रीकृष्ण की छोटी बहिन थी। अत एव आयुध धारण किये हुए आठ भुजाओं सहित आकाश में स्थित हुई, कंस आदि को दिखी ॥ ६ ॥

श्रीसुबोधिनी = सा तद्धस्तादिति, यदैव पाषाणं प्रति प्रक्षिप्तवांस्तदैव हस्तात् सम्यगुत्पच्योत्पतनं कृत्वा सद्य एक सा देवतारूपा जाता, ततोऽम्बरं गता, आकाशे श्येनवत् स्थितां कंसादिभिः सर्वैरेव तथादृश्यत, तस्यास्तथात्वे सामर्थ्यं[1] विष्णोरनुजेति, यशोदा देवकी परस्परविचारेणैकैव, पश्चाच्च जाता, यदि वा भगवान् यशोदासुतो यदि वा देवक्या उभयथापि सानुजा लोकप्रसिद्धेः, विष्णोरनुजात्वेन तथा सामर्थ्यं ज्ञापितं, द्विगुणंरूपमाह सायुधाष्टमहाभुजेति, भगवत्कार्यं स्वकार्यं च करिष्यतीत्यष्टभुजत्वं, भगवत्कार्यं देवक्यादीनां बन्धनिवृत्तिः, स्वकार्यं सर्वेषां दुःखदानं धर्मनाशश्च, भगवत्कृतिसिद्धयर्थ-मायुधसहिता अष्टौ महाभुजा यस्याः, यथा भगवानाविर्भावे विपरीतं रूपं प्रदर्शितवाने वमियमपि ॥ ६ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = ज्यों ही कन्या को शिला पर पछाटा त्यों ही हाथ से छूट कर शीघ्र ही देवतारूप बनगई और बाद में आकाश में चली गई। उस समय आकाश में बाज की तरह स्थित हुई। उस कन्या को कंस आदि सभी ने देखा। उस में देवता रूप होकर आकाश में स्थित होने का सामर्थ्य इस लिये है कि वह व्यापक परब्रह्म की छोटी बहिन है। शंका होती है कि माया देवकीजी से उत्पन्न नहीं हुई तो वह भगवान् की अनुजा (छोटी बहिन) कैसे हो सकती है। यदि कहें कि भगवान् के प्राकट्य के अनन्तर माया ने जन्म लिया है इस लिये वह यौगिक अर्थ को लेकर अनुजा कहला सकती है तो कहते हैं कि भगवान् के पीछे जहां कहीं उत्पन्न होने वाले सभी बालक भगवान् के अनुज कहलायेंगे, इस लिये यहां यह शङ्का रह जाता है कि भगवान् एवं माया के माता पिता एक न होने से माया अनुजा (छोटी बहिन) कैसे कहला सकती है। इस पर (श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज) आज्ञा करते हैं कि कृष्णोपनिषद् में कहा कि नन्द परमानंद रूप है, श्रीयशोदा मुक्तिरूपा है देवकी ब्रह्मविद्या एवं वसुदेव वेदरूप है। लोक में स्पष्ट है कि जानने योग्य वस्तु ज्ञानप्राप्ति में कारण होती है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञेय होता है तब ही उस का ज्ञान किया जाता है। कुछ न कुछ अर्थ होता है तब ही शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा जब विचार है तो मुक्तिरूपा श्री यशोदा देवकी रूपा ब्रह्मविद्या से प्राप्त होती है। इस लिये श्री यशोदा आधिदैविक है और देवकी आध्यात्मिक है। विचार किया जाय तो यह स्पष्ट

---

[1] जहां भगवान् कृष्ण के अभिप्राय से विष्णु शब्द आवे वहां व्यापक अर्थ करना।

योगमाया

गीताप्रेस, गोरखपुर

वह अपने बड़े-बड़े आठ हाथोंमें आयुध लिये दीख पड़ीं।

है कि आध्यात्मिक और आधिदैविक एक ही है। इस लिये श्रीयशोदा और देवकी एक ही है। माया, भगवान् के पीछे हुई है अतः भगवान् देवकी के यहां अथवा श्री यशोदाजी के यहां प्रकट हुए हों और माया भी इन दोनों में किसी के यहां प्रकट हुई हो तब भी वह श्रीकृष्ण की अनुजा कहला सकती है। 卐 यहां यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान् एवं माया यदि यशोदाजी के यहां ही प्रकट हुए हैं तो माया भगवान् के पीछे हुई। साथ में होने वालों में जो पीछे होता है वह बड़ा समझा जाता है इस लिये नियम से माया ही ज्येष्ठा कहलायेगी, वह छोटी बहिन कैसे कहलाई? इसका उत्तर देते हैं कि "पश्चाच्च जाता" यह पीछे हुई इस लिये "अनु पश्चात् जाता अनुजा" ऐसा योगिक अर्थ मान कर अनुजा शब्द का प्रयोग यहां होता है। भगवान् श्री यशोदाजी अथवा देवकीजी के पुत्र हो माया छोटी बहिन है ऐसी लोक में प्रसिद्धि है।" "श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्यम्" इस वाक्य के अनुसार ऐतिह्यरूप जो लोक प्रसिद्धि है उसे भी प्रमाण माना है। अतः लोक प्रसिद्धि के अनुसार माया छोटी बहिन कहला सकती है। व्यापक भगवान् की छोटी बहिन होने से उस का आकाश में उस रूप में स्थित होने का सामर्थ्य है। माया के भगवान् से द्विगुण हाथ थे जिन में वह आयुध धारण किये हुए थी। माया भगवान् का और अपना कार्य करने आई है इस लिये भगवान् की भुजाओं से उस की द्विगुण अर्थात् आठ भुजाएँ हैं। अपने वाक्यों द्वारा देवकी एवं वसुदेवजी को बन्धन से छुडाया इसलिये माया ने यह भगवान् [1] का कार्य किया और कंस को कह कर सब को दुःख दिलाया तथा धर्म का नाश कराया, यह कार्य उस ने अपना किया। इस प्रकार वह दोनों का कार्य करने आई। भगवान् के कार्य को भी करने आई इस लिये आयुध सहित आठ भुजावाली बताई गई। जैसे भगवान् ने अपने प्राकट्य के समय सायुध चतुर्भुजरूप दिखाया वैसे ही इस ने भी सायुध अष्टभुज स्वरूप दिखाया ॥ ६ ॥

श्रीसुबोधिनी = आविर्भावादिदानीं रूपान्तरं गृहीतवती इति तस्याः सामग्रीमाह।

卐 **टिप्पणी** = यहां लेखकार का यह आशय है कि श्रीवसुदेवजी एवं नन्दरायजी धर्म के भाई थे अतः इन दोनों भाईयों के होने वाली सन्तान भाई बहिन हो सकती है, जैसे नन्दरायजी एवं वसुदेवजी धर्म के भाई होने से एक समझे जाते हैं वैसे ही उनकी दोनों पत्नियां भी एक ही समझी जायगी, अतः एव अलग २ माता से उत्पन्न हुए सभी पाण्डव परीक्षित् के पितामह कहलाये क्योंकि पाण्डु के एक होने से कुन्ती एवं माद्री एक ही समझी गई।

[1] **टिप्पणी** = यहां श्री वल्लभजी महाराज कहते हैं कि निबन्ध की रीति से यह माया "अनिरुद्ध" का कार्य करने आई है।

अर्थ = माया ने प्रकट होने के बाद इस समय दूसरा रूप धारण करलिया। इस लिये उस की सामग्री का वर्णन करते हैं।

श्लोक—दिव्यस्रगंबरालेप-रत्नाभरणभूषिता।
धनुःशूलेषुचर्मासि-शंखचक्रगदाधरा ॥ १० ॥

अर्थ = वह देवी दिव्य माला दिव्य वस्त्र दिव्य चन्दन एवं रत्नजडित आभरणों से विभूषित तथा धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शङ्ख, चक्र, गदायुक्त हाथों वाली दिखी ॥ १० ॥

श्रीसुबोधिनी = दिव्येति, दिव्याः स्रजो मालाः, अम्बराणि वस्त्राणि दिव्यान्येव, आलेपश्चन्दनादिः, रत्नयुक्तान्याभरणानि च, एवमलङ्करणचतुष्टयसहिता, दर्शनकृतोयं क्रमः, प्रथमतो गन्धाददृष्टाया अपि स्रजः प्रतीतिः, ततो वस्त्राणां, ततश्चन्दनाभरणानामिति, आयुधानि गणयति धनुरिति, धनुर्वामभागहस्ते शूलमिषुश्च दक्षिणयोः, चर्म वामे, असिर्दक्षिणे, शंखो वामे, चक्रं दक्षिणे, गदा वामे, इति गदान्तानि विभर्तीति गदाधरः ॥ १० ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = दिव्य मालाएँ, दिव्य वस्त्र, दिव्य चन्दन और रत्नजटित आभूषण-इस प्रकार चार प्रकार की सामग्री से वह देवी विभूषित है। यहां माला आदि का जो क्रम कहा गया है वह दर्शन के क्रम से है अर्थात् जो वस्तु पहिले दिखी अथवा जानी गई उस का पहिले निर्देश किया गया है और जो पीछे दिखी उस का पीछे। गन्ध की वजह से पहिले नहीं देखी गई, माला की प्रतीति (ज्ञान) हुई इस लिये पहिले माला का उल्लेख किया फिर वस्त्र तदनन्तर चन्दन और तत्पश्चात् आभूषण। इस लिये इसी क्रम से श्लोक में निर्देश किया गया है। अब माया के हाथों में धारण किये गये आयुधों की गणना की जाती है। माया के वामभाग के एक हस्त में धनुष है। दक्षिण भाग के दो हाथों में से एक हाथ में त्रिशूल है और दूसरे हाथ में बाण है। एक वाम हस्त में ढाल और एक दक्षिण हस्त में तलवार, अन्य वाम हस्त में शंख एवं एक दक्षिण हस्त में चक्र और शेष रहे वाम हस्त में गदा – इस प्रकार वह माया अपनी आठों भुजाओं में गदा पर्यन्त आठों आयुधों को धारण किये हुए थी ॥ १० ॥

श्रीसुबोधिनी = तस्याः स्वरूपं भगवत इव सर्वजनीनमिति ज्ञापयितुमाह।

अर्थ = उसका स्वरूप भगवान् की तरह सर्वजनवेद्य हुआ, इसको बताने के लिये कहते हैं कि:-

श्लोक—सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरः किन्नरोरगैः।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

अर्थ = जिस की सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगणों ने बहुत सामग्री अर्पित कर स्तुति की वह देवी कंस से इस प्रकार बोली:—

श्रीसुबोधिनी = सिद्धचारणेति, सिद्धचारणगन्धर्वास्त्रिगुणाः, अन्ये च, अप्सरैरिति "बहुलं छन्दसी" त्यनेन, ऐकपद्यं तु सुगमं, अस्याः षड्गुणोपजीवका एते, कंसदर्शन एव, उपाहृता उरुबलयः पूजासाधनानि यैः, बलिशब्दो जयजयादिशब्दानां अपि उपलक्षकः, अतस्तैः स्तूयमाना कंसवधं कर्तुं शक्ताऽहमिति ज्ञापयन्तीदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥ ११ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = श्लोक में कहे गये सिद्ध चारण और गन्धर्व त्रिगुणात्मक हैं अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस हैं, और भी कहे गये इसी प्रकार के हैं। श्लोक में "अप्सरैः" ऐसा पाठ मानते हैं तो व्याकरण से वह नहीं बन सकता इस लिये छान्दस मान कर "बहुलं छन्दसि" से उस को सिद्धि होगी। यदि अप्सरः से ले कर आधा चरण पूरा ही समस्त मान लेते हैं तो "अप्सरस्" शब्द रहने पर भी कोई गडबडी नहीं होती। "सिद्ध" से ले कर "सर्प" तक प्रत्येक इस देवी के ऐश्वर्यादि छः गुणों में से एक एक गुण से निर्वाह करने वाले हैं। कंस के देखते २ ही सिद्ध आदि ने उस देवी को बहुत पूजा सामग्री भेट की। श्लोक में आया "बलि" शब्द जय जय आदि शब्दों का भी उपलक्षक है अर्थात् बलि शब्द से जय जय आदि शब्द भी लिये गये हैं। इस प्रकार सिद्ध आदि से जिस की स्तुति की ऐसी वह देवी "मैं कंस को मारने में समर्थ हूँ" ऐसा बताती हुई आगे कही जाने वाली बात बोली ॥ ११ ॥

श्रीसुबोधिनी = द्वयमत्र वक्तव्यं कथं न हन्यते कथं वा रक्षार्थं न स्थीयत इत्युभयसमाधानं तदाहः—

अर्थ = दो बात यहां कहनी है कि तूं ही कंस को क्यों नहीं मार देता और देवकी आदि की रक्षा के लिये क्यों नहीं रहती तो देवी कहती है कि:—

। देव्युवाच ।

श्लोक—किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ।
यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा ॥ १२॥

अर्थ = देवी कहती है कि हे मूर्ख, मेरे मारने से तुझे क्या लाभ है, तेरा मारने वाला, जो तेरा पूर्वजन्म का शत्रु है वह जहां कहीं पैदा हो गया है अतः इस दीन देवकी को व्यर्थ न मार ॥ १२ ॥

श्री सुबोधिनी = किं मयेति, मया हतया किम् ? अहं तु हननेप्यपकारं न करोमि, किं पुनरहता ? अत एतद्वृत्तान्ताज्ञानात् त्वं मन्दः, अवधे हेतुर्जातः खलु तवान्तकृदिति, यस्तु तवान्तं नाशं करिष्यति स तु जात एव क्वकित्, यत्र क्वचिदितिविशेषाकथनं देवगुह्यं, ननु शत्रुत्वाविशेषेऽपि सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि यद् भगवतैव हन्यते न त्वयेति को विशेष इति चेत् तत्राह पूर्वशत्रुरिति, मम त्विदानीं भवाञ्च्छत्रुः, तदप्यन्यबुद्धया, भगवांस्तु भवतः पूर्वशत्रुरतस्तेनैव हन्तव्यः, आकाशवाण्यापि तथैवोक्तं, अतः कृपणां देवकीं मा हिंसीः, तस्या वधे न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत्, अतो वृथैव मा हिंसीः ॥ १२ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = मेरे मारने से तुझे क्या लाभ है ? तू यदि मुझे मार भी देता तो भी मैं तेरा अनिष्ट नहीं करती तो फिर बिना मारे कैसे अनिष्ट कर सकती हूँ। तू इस गुप्त वृत्तान्त को नहीं जानता इस लिये मूर्ख है। मैं तुझे इसलिये नहीं मारती कि तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया है। जहां कहीं पैदा हो गया ऐसा सामान्य रूप से देवी ने कहा। विशेष स्थान का निर्देश नहीं किया। इसका कारण यह है कि छिपा कर कहने से देवता प्रसन्न होते हैं। यदि तू यह कहे कि मैं जैसा भगवान् का शत्रु हूं वैसा तेरा भी शत्रु हूँ और तुझ में मुझे मारने का सामर्थ्य भी है तो भगवान् मुझे मारेंगे, तू नहीं मारती, इसमें क्या कारण है। देवी कहती है कि भगवान् तेरा पूर्वजन्म का शत्रु है। मेरा तो तू इस समय शत्रु बना है और वह भी देवकी के अष्टम बालक की बुद्धि से अतः तुझे भगवान् ही मारेंगे, आकाशवाणी ने भी यही बात कही है। अतः इस दीन देवकी को न मार। इसके मारने से तुझे कोई फल मिलने वाला नहीं है ॥ १२ ॥

श्री सुबोधीनी = एवमुक्त्का गतेत्याहः—

अर्थ = इस प्रकार कह कर देवी चली गई, यह कहते हैं।

। श्री शुक उवाच ।

श्लोक—इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि ।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह ॥ १३ ॥

अर्थ = श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार स्पष्टतया अनेक बातें कह कर वह माया भगवती देवी पृथिवी के अनेक स्थानों में स्थित होती हुई बहुत नामवाली हुई ॥ १३ ॥

श्रीसुबोधीनी = इतीति, प्रकर्षेण भाषित्वा स्पष्टतया निरूप्य, अनेन संवादान्तरमपि कंसेन सह कृतवतीति लक्ष्यते, अन्यथा ब्राह्मणैः सह विरोध न कुर्यात्, तेन सह संवादेनैव कार्यं सर्वं सिद्धमिति ज्ञातवतीत्यत्र हेतुमाह देवीति, यद्यन्याप्यागत्य स्पष्टमन्यथा वदेत् तथापि तया मोहितः कंसो

नान्यदङ्गीकुर्यादित्यत्र हेतुमाह भगवतीति, सा हि भगवद्भावप्राकट्यं कृत्वा लोके पूजां प्राप्स्यतीति भगवद्वाक्यानुसारेण वहुनामनिकेतेषु भूमौ यावन्ति स्थानानि यन्नामानि तत्र सर्वत्रैव स्थिता बहूनि रूपाणि कृत्वा वहुनामा बभूव, दुर्गादिमूर्तिषु रूपभेदस्य स्पष्टत्वाद्, देवकीवसुदेवयोर्निर्बन्धो व्यर्थः ॥ १३ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = देवी ने इस प्रकार स्पष्ट कहा। यहां "प्रभाष्य" पद में जो "प्र" उपसर्ग है उस से सूचित किया कि इस के अतिरिक्त भी देवी ने कुछ कहा। यदि पूर्वोक्त वात ही कहती तो उसके वाक्यों में ब्रःह्मण आदि का निर्देश न होने से ब्राह्मणों के साथ वह द्वेष नहीं करता परन्तु देवी ने ब्राह्मण आदि के विषय में भी कुछ कहा इसलिये ब्राह्मणों से भी उसने द्वेष करना आरंभ किया। कंस के साथ बात चीत करने से ही सब कार्य सिद्ध हो गया। यह बात देवता होने से देवी ने समझली। इसी आशय से श्लोक में "देवी" पद दिया है। उस देवी में भगवान् के ऐश्वर्यादि धर्म हैं अतः उससे मोहित हुआ कंस यदि दूसरी किसी भी शक्ति द्वारा समझाया जाय तब भी न समझे, इस आशय से श्लोक में "भगवती" पद दिया है। वह भगवती है इसलिये सर्वत्र भगवद्भाव को प्रगट कर पूजा को प्राप्त करेगी। अतः वह भगवान् के कहे अनुसार पृथ्वी पर जितने भी स्थान हैं उनमें अनेकरूप धारण कर अनेक नामों से प्रसिद्ध हुई। दुर्गादि मूर्तियों में उसके अनेक रूप स्पष्ट हैं अर्थात् दुर्गा आदि के जो भी रूप हैं वे उसी के हैं। वह माया भगवद्भाव को प्रकट कर अनेक स्थानों में अनेक रूपों से पूजी जायगी तो उसे अपने पास रखने के लिये वसुदेवजी देवकीजी का आग्रह व्यर्थ है ॥ १३ ॥

श्रीसुबोधिनी = "शत्रुस्तु जात" इति मायावचनं श्रुत्वा कंसः किं कृतवानित्याकांक्षायामाह :—

अर्थ = तेरा शत्रु कहीं उत्पन्न हो गया ऐसे माया के वचन सुनकर कंस ने क्या किया सो कहते हैं:—

श्लोक—तथा कथितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः ।
देवकीं वसुदेवञ्च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥ १४ ॥

अर्थ = देवी द्वारा कहे गये वाक्यों को सुन कर कंस बहुत विस्मित हुआ और उसके वाक्य में विश्वास कर देवकी और वसुदेवजी की बेड़ी को तोड़कर विनम्र होता हुआ बोला ॥ १४ ॥

श्रीसुबोधिनी= तयेति, वाक्यं तु भगवत्संबन्धि तया तु परं केवलमभिहितं, तदाकर्ण्य परमं विस्मयं प्राप्तवान्, यदीयं देवता ज्ञायेत धृत्वैव स्थाप्येत, तद्वाक्यविश्वासाद् देवकीं वसुदेवं च विमुच्य शृंखलां

दूरीकृत्य देवीवाक्यादुत्पन्नशुद्धभावः प्रश्रितो विनीतोऽब्रवीत्, कायिकं मानसं च शुद्धभावं प्रदर्श्य वाचिकं प्रदर्शितवान् इत्यर्थः ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ = माया ने जो वाक्य कहे वे भगवान् के ही वाक्य थे क्यों कि माया भगवान् का भी कार्य करने आई है इसलिये उसने तो भगवद्वाक्यों का अनुवाद ही किया है। देवी के उन वाक्यों को सुनकर कंस को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। यदि कंस उसे देवता समझ लेता तो पकड़कर अपने पास रखता परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं हुआ। इसके पश्चात् देवी के वाक्य में विश्वास कर वह कंस देवकी और वासुदेवजी की बेड़ियां तुड़वा कर देवी के कथन से शुद्ध भाव वाला और नम्र होकर बोला अर्थात् कंस ने देह और मन से शुद्ध भाव दिखाकर वाणी से भी शुद्ध भाव दिखाया। यह बात "विमुच्य प्रश्रितोब्रवीत्" से कही है। छोड़ने से कायिक शुद्ध भाव दिखाया और नम्र होने से मन से और बोलने से वाचिक शुद्ध भाव दिखाया ॥ १४ ॥

श्रीसुबोधिनी = तस्य वाक्यान्याहाहो इत्यष्टभिः।

अर्थ = उस कंस के वाक्यों को "अहो भगिन्यहो" इत्यादि आठ श्लोकों से कहते हैं। प्रथम "अहो भगिन्यहो" इत्यादि श्लोकों के वाक्यार्थ को निम्न निर्दिष्ट कारिकाओं से बता रहे हैं:—

कारिकाएँ = स्वापराधस्य कथनं फलस्यापि च कीर्तनम्।
भ्रमाच्चैवापराधोऽयं शोकदूरीकृतिस्तथा ॥१॥
एवं चतुर्भिर्लोकोक्त्या शोकाभावो निरूपितः।
तत्त्वावबोधनेनापि चतुर्भिः शोकनाशनम् ॥२॥
आत्मनो न हि शोकोस्ति ज्ञानदृष्टेश्च नश्यति।
अतः शोको न कर्त्तव्यः कर्माज्ञानवशो यतः ॥३॥

कारिकार्थ = "अहो भगिन्यहो भाम" इत्यादि से कंस ने अपने अपराध को कहा। "स त्वहं" इत्यादि श्लोक से उसने अपने अपराध का फल बताया। "दैवमप्यनृतं वक्ति" इत्यादि से भ्रम से मैं ने यह अपराध किया ऐसा कहा। "मा शोचतं" इत्यादि से आपको शोक नहीं करना चाहिये यह कहा ॥ १ ॥ इस प्रकार चार श्लोकों से आप शोक न करें ऐसा लौकिक रीति से समझाया अर्थात् लोक में जैसे समझाया जाता है वैसे

समझाया। इनसे आगे के चार श्लोकों में तत्त्वज्ञान समझा कर कंस ने वसुदेवजी एवं देवकाजी का शोक दूर किया ॥ २ ॥ इस में "भुवि भौमानि" श्लोक से कहा कि आत्मा न जन्म लेता है और न मरता ही हैं इसलिये शोक नहीं करना चाहिये। "यथा नैवं विदो भेदः" इस आगे के श्लोक से आत्मज्ञान से शोक निवृत्त हो जाता है ऐसा कहा। "तस्माद् भद्रे" इस श्लोक से तथा "यावद्धतोऽस्मि" से कहा कि जीव कर्म और अज्ञान से विवश हो अपना अशुभ फलभोगता है [1] अतएव उनके लिये तुम को शोक न करना चाहिये।

श्री सुबोधीनी = प्रथमतः स्वापराधकीर्तनेन क्षमापयतिः—

अर्थ = पहिले अपने अपराध को कह कर कंस क्षमा चाहता है।

। कंस उवाच ।

श्लोक—अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना ।
पुरुषाद इवाभ्येत्य बहवो हिंसिताः सुताः ॥ १५ ॥

अर्थ = कंस पश्चात्ताप करता हुआ आश्चर्य के साथ बोला कि हे बहिन ! अजी बहिनोईजी ! मुझ पापी ने मनुष्यभक्षी राक्षस के समान जबरदस्ती आप दोनों के अनेक पुत्रों का वध किया, मुझे इसका बड़ा दुःख है ॥ १५ ॥

श्रीसुबोधीनीजी = अहो इत्याश्चर्येण संबोधनं, आश्चर्याविष्टस्तथैवागत्य देवकीं वसुदेवं च पृथक् प्रार्थयते, अहो इति पृथग्वचनं, 'भामस्तु भगिनीपतिः' सम्बन्धेन संबोधनं स्नेहार्थं, वां युवयोः, पापस्य स्वस्य च भेदाभावं वदन्नाह पाप्मनेति, बतेति खेदे, पश्चात्तापेन वदामीति ज्ञापयति, न त्विदं प्रतारणार्थं, पुरुषादो राक्षसः, सहि भक्षणार्थं बालाकान् नयति, तथा मया स्वदेहरक्षाभ्रमाद् युवयोर्बहवः सुता विहिंसिताः, राक्षसानां सम्बन्धाद्यपेक्षा शास्त्रापेक्षा च नास्ति किन्तु प्राणरक्षार्थमेव सर्वेषां सर्वपुरुषार्थसाधकान्यपत्यानि भक्षयन्ति तथा मया मारिता इति तुल्यता, ततोऽपि विशेषस्तु बहव इत्यनेन ज्ञापितः ॥ १५ ॥

---

१. यहां यह समझना चाहिये कि "तस्मा द्भद्रे" श्लोक से कर्मवश हो कर जीव फल भोगता है यह कहा और "यावद्धतोऽस्मि" से यह कहा कि जीव अज्ञानवश हो कर फल भोगता है।

व्याख्यार्थ = अहो यह आश्चर्यबोधक सम्बोधन ह। कंस आश्चर्ययुक्त होकर देवकी वसुदेवजी के पास आया और उन्हें पृथक् २ प्रार्थना करने लगा। अहो यह आश्चर्य बोधक संबोधन होने से भिन्न पद है। कंस कहता है कि हे बहिन ! हे बहनोईजी ! श्लोक में "भाम" पद देने से कंस ने यह सूचित किया कि तुम मेरी बहिन के पति हो, तुम्हारा मेरा सम्बन्ध है और सम्बन्धो के साथ स्नेह होता ही है इसलिये तुमसे मेरा स्नेह है। तुम्हारे पुत्रों को पापरूप मैंने मारा। यहां "पाप्मना" कह कर यह बताया कि मेरे में और पाप में कोई भिन्नता नहीं है अर्थात् मैं पापरूप ही बन गया हूँ। श्लोक में आये "बत" पद का अर्थ खेद है। अभिप्राय यह है कि कंस कहता है कि मैं इस कर्म से हार्दिक पश्चाताप करता हूं, तुम्हारी प्रतारणा के लिये दिखावा नहीं करता। जैसे खाने के लिये राक्षस बालकों को ले जाता है वैसे ही मैंने यह समझ कर कि बालकों को मारने से मेरे देह की रक्षा हो जायगी तुम्हारे बहुत पुत्रों को मार दिया। राक्षस किसी से न सम्बन्ध पालते हैं और न शास्त्र की ही अपेक्षा रखते हैं अर्थात् राक्षसों का न कोई सम्बन्धो होता है और न वे "बालकों को नहीं मारना चाहिये" इस शास्त्र मर्यादा का ही पालन करते हैं। वे तो अपने प्राणों की रक्षा के लिये, जिन के द्वारा सब पुरुषार्थ मिल सकते हैं, ऐसे सभी के सन्तानों को खा जाते हैं, उन राक्षसों की भांति मैं ने भी तुम्हारे पुत्र मारे। मैं तो उन राक्षसों से भी बढ़ गया क्यों कि वे तो एक दो सन्तान ही खाते हैं और मैं ने तो तुम्हारे बहुत पुत्रों को मार डाला। यह बात यहां "बहवः" पद से कही है ॥ १५ ॥

श्री सुबोधिनी = एवमपराधस्य फलमपि संभावयति ।

अर्थ = कंस इस प्रकार के अपराध से होने वाले फल की भी संभावना करता है ।

श्लोक— स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत् खलः ।
काँल्लोकान् सङ्गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वमन् ॥१६॥

अर्थ= जिस ने दया छोड़दी है और ज्ञाति एवं मित्रों को भी छोड़ दिया है ऐसा दुष्ट मैं ब्रह्महत्या करने वाले की भाँति किन लोकों को प्राप्त करूँगा; मैं तो जीवित ही मृत हूं ॥१६॥

श्री सुबोधिनी= स त्वहमिति, दैत्यावेशात् कृतं स्वतस्त्वं समीचीन इति न तव नरकसंभावनेत्याशङ्क्य तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति, मया कृतमिति य एव मन्यते स एव तत्फलं प्राप्नोतीति यतः सोऽहं, "जिघांसन्तं जिघांसीया" दिति वाक्यात् तव को दोष इति चेत् तत्राह त्यक्तकारुण्य इति, प्रथमतो ये हतास्ते तु न जिघांसवो भवन्ति तथा त्वं वा, यदा ते मारयितुमायान्ति समर्था वा तदैव वध्या न तु बालका दीनाः, अतो येषु कारुण्यं कर्त्तव्यं बालकेषु भागिनेयेषु तेषु न कृतमिति त्यक्तकारुण्यः, ननु संभावनयापि शत्रवो मार्यन्ते शत्रुपुत्राश्चातो राज्ञां संभावनयापि वधो न दोषायेति चेत् तत्राह त्यक्तज्ञातिसुहृदिति, त्यक्ता ज्ञातयः सुहृदो मित्राणि च येन, नन्वात्मघातकाः सर्व एव

वध्या 'भ्रातापि भ्रातारं हन्या' दिति तत्राह खल इति, मयैव परं ते मारिता न तु तैरहं, अतोहमेव खलो वृथैव परघातकः, अतो दुष्टकर्मणः कृतत्वात् कान् लोकान् सङ्गमिष्यामि ? ननु सिद्धा एव तामिस्रादयो घातकानां ये तत्राह ब्रह्महेवेति, ननु 'ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जित' इति वाक्यात् कः सन्देह इति चेन्न, प्रायश्चित्तस्य करिष्यमाणत्वाद् वधजनितो दोषो न भविष्यति परं महतामपचारात् प्रायश्चित्तं दुर्बलं न वा इति संदेहादेवं वचनं, ननु प्रायश्चित्ते नास्त्येव नरकः कथं सन्देह इति चेत् तत्राह मृतः श्वशन्निति, अयं पुरुषः श्वशन्नेव मृतः, अपकीर्तेर्जातत्वात्, अतो ज्ञायते यदि पापं गच्छेत् तदा तदभावः सर्वजनीनः स्यात् सर्वात्मकत्वाद् भगवतः, अतोमृतः श्वशन् यतो वर्ते, प्रायश्चित्तशास्त्रस्य च प्रामाण्यात् सन्देहकथनम् ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ = यदि आप कहें कि तुझ में कालनेमि का आवेश हो गया था इसलिये तुझ से यह दुष्कर्म बना है, स्वयं तो तूँ अच्छा ही है अतः तेरे नरक में जाने की संभावना नहीं है तो कंस श्लोक में आये "तु" शब्द से इस पक्ष का निराकरण करता हुआ कहता है कि यह अपराध मैंने किया है। ऐसा जो मानता है वही "कर्तास्मीति निबद्धयते" इस शास्त्रीय नियम के अनुसार फल भोगता है। मैं भी यही मानता हूँ कि मैं ने यह पाप किया है इसलिये मुझे इसका फल मिलेगा ही। यदि कहें कि "जिघांसंत जिघांसीयात्" इस वाक्य के अनुसार जो मारने की इच्छा रखता हो उसे मारना ही चाहिये तो तेरा इसमें क्या दोष है। इस पर कंस कहता है कि प्रथम तो बात यह है कि जिन बच्चों को मैं ने मारा है वे मारने की इच्छा नहीं रखते थे और तुम भी मारने की इच्छा नहीं रखते हो, जब वे बालक मारने आते अथवा समर्थ होते तब ही उन्हें मारना उचित होता, पहिले उन दोन बालकों को मारना उचित नहीं था। जिन भानेज बालकों पर मुझे दया करनी चाहिये थी उन पर मैं ने दया नहीं की इसलिये मैं निर्दय हूँ। यदि कहें कि यह मेरा शत्रु होगा इस संभावना पर भी शत्रु एव शत्रुपुत्र मारे जाते हैं तो संभावना से तूँ ने इन्हें मारा है इसलिये मारने का दोष तुझे नहीं लगेगा। कंस कहता है कि मैंने ज्ञाति मित्रों के सम्बन्ध को तोड़ दिया है। ये मेरे सुहृद् के पुत्र हैं अतः उन्हें नहीं मारना चाहिये यह विचार नहीं रखा है। यदि कहें कि जो अपने को मारने वाले हों, वे सब मारने योग्य हैं जैसा कि कहा है "भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्" मारने वाले भाई को भी भाई मारदे। तो कंस कहता है कि मैं दुष्ट हूँ क्यों कि मैं ने ही उन्हें मारा है, उन्हों ने मुझे नहीं मारा है अतः मै व्यर्थ दूसरों को मारने वाला हूँ इसलिये दुष्कर्म करने से मैं किन लोकों को प्राप्त करूँगा। यदि कहें कि मारने वालों को तामिस्र आदि नरक मिलते ही हैं तो फिर तुझे यह सन्देह करना ही नहीं चाहिये कि मैं किन लोकों को जाऊँगा। इस पर कंस कहता है कि ब्रह्महत्या करने वाले को जो नरक मिलता है वह मुझे मिलेगा। यदि आप कहें कि "ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जिते" इस वाक्य के अनुसार जहां से पीछा नहीं लौटता है ऐसे घोर नरक में ब्रह्म हत्या करने वाला दुःख पाता है, तुझे भी वही नरक मिलेगा फिर क्यों सन्देह करता है कि मैं किस नरक में पड़ूँगा। इस पर कंस कहता है कि मैं प्रायश्चित करूँगा उससे मुझे मारने का दोष तो नहीं लगेगा परन्तु महान् व्यक्तियों के अपराध से प्रायश्चित्त न्यून है या नहीं इस सन्देह

के होने से मैं ऐसा कहता हूं। यदि कहें कि प्रायश्चित कर लेने पर नरक मिलेगा ही नहीं तो कहता है कि इस प्रकार का व्यक्ति जीवित ही मृत है क्योंकि उसकी अपकीर्ति हो गई है। कंस कहता है कि मुझ में पाप नहीं रहता तो मेरी अपकीर्ति मिट जाती, पाप नहीं रहने के कारण भगवान् के सर्वात्मक होने से कोई भी मेरी अपकीर्ति नहीं करता परन्तु ऐसा नहीं हुआ है इसलिये मैं जीवन्मृत हूं। मैं किस नरक में जाऊँगा यह सन्देह तो इसलिये हो रहा है कि प्रायश्चित बताने वाला शास्त्र कहता है कि प्रायश्चित से पाप दूर हो जाते हैं ॥ १६ ॥

श्री सुबोधिनी = एवं संभावनया फलं निरूप्यायं मम सहजदोषो न भवतीति स्वदोषपरिहारं वदन्निवाह।

अर्थ = इस प्रकार संभावना से अपने को मिलने वाले फल का निरूपण कर इस में मेरा सहज दोष नहीं है इस बात को सिद्ध करने के लिये अपने आपको निर्दोष बताते हुए की तरह कंस कहता है:—

श्लोकः— दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम्।
यद्विश्रंभादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्च्छिशून् ॥१७॥

अर्थ = केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, देवता भी झूठ बोलते हैं। देवता के विश्वास पर ही मुझ पापी ने अपनी बहिन के बहुत बालकों को मार दिया।

श्री सुबोधिनी = दैवमप्यनृतं वक्तीति, आकाशवाणी दैव "मत्स्यास्त्वामष्टमो गर्भः" इति वाक्यं, दुर्गापि देवता, एकं तु प्रत्यक्षसंवादि, आकाशवाण्यास्तु वाक्यं विसंवादि, देवगुह्याज्ञानादेवं वचनं "मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठित" मिति वाक्यान्मनुष्याणामनृतं दैवेषु सत्यं, तदत्र विपरीतं, न केवलं मर्त्या एवानृतवादिनः, किन्तु दैवमप्यनृतं वक्ति, अतो यद्विश्रंभाद् यद्वाक्यविश्वासात् स्वसुः सुतान् वृथैव निहतवान्, ननु "सन्देहे प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः" इति तद्-हृदये कथं भातमिति चेत् तत्राहाहं पाप इति, महतां हि हृदयं प्रमाणं न तु पापनिष्ठानां, शिशूनिति वयः सख्ये विरुद्धे निरूपिते, अष्टम एक एव हन्तेति सामर्थ्यप्रतिवादकवाक्यात् ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ = आकाशवाणी रूप देवता ने तो यह कहा था कि इस देवकी का आठवां गर्भ तुझे मारेगा। आकाशवाणी जैसे देवता है वैसे ही दुर्गा भी देवता है। जो दुर्गा ने बात कही वह तो प्रत्यक्ष के विरुध नहीं हुई किन्तु आकाशवाणी ने जो कहा वह प्रत्यक्ष के विरुद्ध हुई। कंस देवताओं की गुप्त बात को नहीं जानता है इसलिये ऐसा कहता है। कंस कहता है कि "मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठितं" इस वाक्य के अनुसार झूठ मनुष्यों में रहती है और देवताओं में सत्य की स्थिति है परन्तु यहां विपरीत देखने में आया। मैं तो समझता था कि मनुष्य ही झूठ बोलते हैं परन्तु अब मालूम हुआ कि देवता भी झूठ बोलते हैं। देवता के वाक्य पर विश्वास करके ही मैं ने बहिन के पुत्रों को व्यर्थ ही मारा। यदि कहें

कि तुझे इस बात में सन्देह था तो "प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः" के अनुसार अन्तः करण ही यह ठीक है या नहीं इसकी साक्षी दे देता है तो तूँ ने अन्तःकरण से यह क्यों नहीं समझा। तेरे हृदय में आकाश वाणी की बात ही क्यों आई तो कहता है कि मैं अत्यधिक पाप करने से पापरूप बन गया हूँ। जो महान् होते हैं उनका अन्तःकरण साक्षी दे देता है कि यह ठीक है या नहीं और जो पापी हैं उनका हृदय किसी बात को ठीक नहीं कह सकना। श्लोक में आये "स्वसुःशिशून्" का भाव यह है कि बहिन के साथ प्रेम था उस प्रेम का भी मैं ने पालन नहीं किया और बच्चे बिलकुल छोटे हैं इसका भी विचार मैं ने नहीं रखा। मुझे आकाशवाणी ने यह कहा कि आठवां गर्भ तुझे मारेगा इससे तो स्पष्ट था कि वह सामर्थ्यशाली होगा परन्तु ये बच्चे तो इस प्रकार के नहीं निकलें, इन्हें तो मैंने व्यर्थ ही मारा ॥ १७ ॥

श्री सुबोधिनी = नन्वतः परं किं कर्त्तव्यमित्याशङ्क्याहः—

अर्थ = अब इस के आगे क्या करना चाहिये तो कहते हैं किः—

श्लोकः— मा शोचतं महाभागा-वात्मजान् स्वकृतम्भुजः ।
जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनाः सदासते ॥१८॥

अर्थ = हे महाभाग्यशाली देवकी वसुदेवजी ! अपने पुत्रों का शोक न करो क्योंकि उन्होंने अपने किये हुए कर्मों का फल भोगा है, भगवदिच्छा से जो जन्म एवं मरण के मार्ग में हैं वे सदा एक साथ नहीं रहते ॥ १८ ॥

श्री सुबोधिनी = मा शोचतमिति, महतां शोके हेतुभूतः प्रायश्चित्तेप्यनधिकारी भवति इति मत्कृपया शोको न कर्त्तव्यः, नन्वपकारिणि कथं कृपेतिचेत् तत्राह महाभागाविति संबोधनं, महतां शत्रुमित्रोदासीनभावो नास्ति, ननु महत्त्वादेव शोकाभावे सिद्धे कथं शोकाभावो बोध्यत इति चेत् तत्राह स्वात्मजानिति, न हि स्वाकृतार्थत्वेन शोकः किन्तु बाला अकृतार्था गता इति, तेषां शोकाविषयत्वे हेतुमाह स्वकृतंभुज इति, यद्यपि मरीचिपुत्रा एवं जाता इति न जानाति तथापि कार्यादनुमिनोति, अतस्तैरपि तादृशं कर्म कृतमस्ति येन बाला एव हता, ननु न वयं ताञ्च्छोचामो नात्मानं किन्त्वेकत्रोभयेषां स्थितिर्नाभूदिति शोचाम इति चेत् तत्राह जन्तव इति, ये हि निरन्तरं जायन्ते "जायस्व-म्रियस्वे" तिमार्गवर्तिनस्ते सदैवैकत्र नासते यतो भगवदिच्छा तथैव तेषु, तदाह दैवाधीना इति, यद्यपि तिष्ठन्ति तदापि पूर्ववासनया शत्रुमित्रोदासीनत्वस्य नित्यत्वान्न सम्यगासते, सहासत इति वा पाठः ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ = जो महान् पुरुषों के शोक का कारण बनता है, वह प्रायश्चित करने का भी अधिकारी नहीं होता। ऐसी दशा में उसको प्रायश्चित से शुद्धि न होने ने उसे नरक भोगना पड़ता है इसलिये मुझ पर कृपा कर आप शोक न करें। यदि कहें कि बुरा करने वाले पर कृपा कैसे की जा

सकती है तो कंस कहता है कि आप महाभाग हो, जो महाभाग्यवान् होते हैं वे महान् होते हैं, उन में शत्रु, मित्र एवं उदासीन भाव नहीं होते। आप यदि यह कहें कि हम जब महान् हैं तो अपने आप शोक नहीं करेंगे तूँ हमें क्या समझा रहा है कि शोक नहीं करना चाहिये। इस पर कंस कहता है कि ये आप के पुत्र थे, आपको अपनी अकृतार्थता का शोक नहीं है किन्तु बालकों ने जन्म लिया और उन से कुछ भी सुकृत न बना, वे अकृतार्थ ही गये, इस बात का शोक है परन्तु यह शोक नहीं करना चाहिये क्यों कि जैसा उनका कर्म था वैसा उन्होने फ़ल भोगा। कंस को यद्यपि यह ज्ञात नहीं था कि ये बच्चे मरीचि के पुत्र थे और इस प्रकार यहां उत्पन्न हुए तो भी कार्य से अनुमान लगा लिया कि इन्हों ने ऐसा कर्म किया था जिससे ये बाल्यावस्था में ही मारे गये। कंस कहता है कि यदि आप यह कहें कि न हम बालकों का शोक करते हैं और न अपना ही, हम तो इस बात का शोक करते हैं कि पुत्र और हम साथ न रहे। इस पर कंस कहता है कि जो "जायस्वम्रियस्व" के मार्ग में हैं वे सदा ही एक जगह नहीं रहते क्यों कि उन के लिये भगवान् की इच्छा ऐसी ही है। इस बात को "दैवाधीनाः" पद से कहा है। यदि इस प्रकार के प्राणी रह भी जाते हैं तो भी उनमें पूर्ववासना से शत्रु, मित्र एवं उदासीनता के भावों के नित्य रहने से वे अच्छे रूप में नहीं रह सकते। श्लोक के अन्त में "सदासते" "समासते" और "सहासते" ये तीनों पाठ हो सकते हैं। इस लिये उपर्युक्त तीनों अर्थ किये गये हैं॥ १८॥

श्री सुबोधिनी = एवं लौकिकन्यायेन स्वापराधाभावं प्रार्थयञ्छोकापनोदनं कृतवान् पुनः शास्त्रानुसारेणापि शोकापनोदनमाह चतुर्भिः।

अर्थ = मेरा इस में कोई अपराध नहीं है ऐसा लौकिक न्याय से बताकर कंस अब शास्त्र के अनुसार भी चार श्लोकों से शोक दूर करता है।

श्लोकः— भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च।
नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः॥ १९॥

अर्थ = जैसे मिट्टी से घट आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु मिट्टी में विकार नहीं होता वैसे ही शरीर बनते बिगड़ते रहते हैं परन्तु आत्मा में कोई विकार नहीं होता अथवा यों कहिये कि जैसे घट तृण भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं परन्तु पृथिवी में स्थित अन्तर्यामी रूप परमात्मा में कोई विकार नहीं होता वैसे ही देह के उत्पन्न एवं नष्ट होने पर आत्मा में कोई विकार नहीं होता॥ १९॥

श्रीसुबोधिनी = भुवीति, पूर्वं ते म्रियन्त इत्यङ्गीकृत्य शोकापनोद उक्त इदानीं ते न म्रियन्त एवेत्युच्यते, आत्मा " नित्यः सर्वगतः स्थाणु" रिति वाक्याद् व्यापको गमनागमनादि शून्यः कूटस्थः, सांख्यानामेवमेव मतं दैत्यानां हृदये समायातीति तदेवोच्यते, देहास्त्वाकाशेऽभ्रतमः प्रकाशा इवोच्चावचाः समायान्ति गच्छन्ति न न त्वाकाशे कश्चन विकार उत्पद्यते तथा पुत्राणामप्यात्मत्वात् तेषां देहे गते न काचित् क्षतिः, स्पष्टतया व्यवहार्यत्वाद् भूमि-दृष्टान्तो बुध्यत इति तमाह यथा भौमानि भूविकाराणि भूतानि कृमिकीटादीनि वृक्षादीनि वा यथा यान्ति भूमेः सकाशादुत्पद्यन्ते पृथग् भवन्त्यपयान्ति च भूमावेव लयं प्राप्नुवन्ति तेषूद्भवेषु लीनेषु वा भूमिस्तु न विक्रियते तथा-त्मन्यपि देहा यान्त्यपयान्ति चात्मोपार्जितकर्मवशादेवोत्पद्यन्ते लीयन्ते च तथाप्यात्मा न वोत्पद्यते न वा लीयत इत्यर्थः, यथा भूस्तथा देहानामपि भौतिकत्वान्न पृथड् निरूपणं, भुवि भौमानि भित्यादीनीत्येव सम्बध्यते भूतानीति त्वात्मनीति वा, भूतानि जातानि वा, तेष्वेव भूतेषु विद्यमान आत्मा न तथेति वक्तुं दृष्टान्त एव प्रवेश उक्तः, यथा बहिः स्थिता पृथिवी न विक्रियत एवमन्तः-स्थितः आत्मापि, तथैतेष्विति भिन्नं वाक्यं, एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियत इति, उक्तेषु मनुष्यादिदेहेषु भूम्यविकारः प्रत्यक्षसिद्धः, वर्षाकालोद्भवेषु तृणादिषु चात्माविकारश्च प्रत्यक्षसिद्धः, अन्यथात्मात्मानन्त्यकल्पना प्रसज्ज्येत, यथा देहे लोमानि न पृथगात्माधिष्ठितानि तथा भूमावप्येक एवात्मा तत्सम्बन्धात् कोटिशस्तृणादीन्युत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, अधिष्ठात्र्यो देवतास्तु भिन्नाः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ = प्राणी जन्म लेते हैं और मरते हैं, वे भगवदिच्छा के अधीन होकर एक जगह नहीं रह पाते, यह पहिले कहकर कंस ने शोक दूर किया। अब कहता है कि वे मरते ही नहीं क्योंकि "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" के अनुसार आत्मा (जीव) व्यापक (सर्वत्र रहने वाला) एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में नहीं जाने आदि धर्मों से युक्त एवं कूटस्थ (सदा एक रस वाला) है, इस प्रकार के सांख्यमत को ही दैत्य मानते हैं इसलिये कंस ने इस प्रकार के मत को कहा । अर्थात् जीव को व्यापक आदि बताया। कंस कहता है कि जैसे आकाश में बादल, अन्धकार एवं प्रकाश होते रहते हैं परन्तु आकाश में कोई विकार नहीं होता वैसे ही ऊँच नीच देह उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु आत्मा में कोई विकार नहीं होता। तुम्हारे पुत्रों में भी उस आत्मा का रूप था इसलिये उनके देह के चले जाने पर भी कोई क्षति नहीं हुई। यहां आकाश का दृष्टान्त तो दिया है परन्तु स्पष्ट रूप में वह व्यवहार में नहीं आता। इसलिये कंस दूसरा प्रत्यक्ष व्यवहार में आने वाला दृष्टान्त देता है कि जिस प्रकार पृथ्वी के विकारभूत कृमि कीट आदि एवं वृक्षादि हैं वे भूमि से पैदा होते हैं अर्थात् पृथ्वी से भिन्न होते हैं और पृथ्वी में ही लीन हो जाते हैं, उनके निकलने व लीन होने पर जैसे भूमि में कोई विकार नहीं होता, वैसे ही आत्मा में समझना चाहिये। अपने से किये गये कर्मों के अधीन होकर ही देह उत्पन्न होती हैं और लीन हो जाती हैं परन्तु आत्मा न पैदा होता है और न लीन होता है । श्लोक में "यथा भूः" ऐसा कहा है। यहां श्लोक में जैसे यह कहा कि पृथ्वी से पैदा हुई चीजों में विकार होता है और पृथ्वी में विकार नहीं होता वैसे ही श्लोक में यह भी कहना चाहिये था कि आत्मा में विकार नहीं होता किन्तु देह आदि में विकार होता है, परन्तु ऐसा इसलिये नहीं कहा कि देह भी श्लोक में कहे

गये "भौमानि भूतानि" इन पदों से ले लिया गया इसलिये पृथक् देह पद श्लोक में नहीं दिया गया। श्री प्रभु चरण आज्ञा करते हैं कि "भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति तथात्मा न याति नापयाति" इतना ही श्लोक का शक्य (मुख्य) अर्थ होना चाहिये और पद भी ये ही होने चाहिये, शेष रहे श्लोक के पद व्यर्थ हैं। और दूसरी बात यह भी है कि पृथ्वी में विकार होकर ही वस्तु पैदा होती है इसलिये यह कहना ठीक नहीं हैं कि पृथ्वी से वस्तु पैदा होती है और पृथ्वी में कोई विकार नहीं होता। इस अरुचि से श्री सुबोधिनी में दूसरे पक्ष का उल्लेख करते हैं कि "भुवि भौमानि भित्यादीनि" अर्थात् पृथ्वी में भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु पृथ्वी उस रूप में न बनती है और न बिगड़ती है। शरीरस्थ पंच महाभूत जो जल आदि हैं वे उत्पन्न और न नष्ट होते हैं।*

---

* **टिप्पणी (१)** इस प्रकार "भूतानि" पद के अर्थ का 'आत्मनि' पद के अर्थ में सम्बन्ध करने से अर्थ होता है। यद्यपि इस प्रकार अर्थ करने पर भी "भूत" पद एवं "एतेषु" इत्यादि पद सार्थक नहीं होते हैं क्यों कि "नायमात्मा तथा" ऐसा कहने से भी काम चल जाता है परन्तु यहां यह कहना है कि जल आदि में वही भगवान् अन्तर्यामी रूप से रहता है परन्तु पञ्चमहाभूतों के उत्पत्ति-नाश-रूप-धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां "भूतानि" "एतेषु" आदि पद न देते तो यह अर्थ नहीं होता। श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि जैसे "भौमानि" पद के अर्थ का अन्वय "भुवि" पद के अर्थ में होता है, उसी रूप में श्लोकस्थ "भूतानि" पद का सम्बन्ध अध्याहार किये गये "आत्मनि" पद के अर्थ के साथ होता है और बाकी अपेक्षित पदों की आवृत्ति करनी चाहिये; परन्तु यह पक्ष मान लेने पर "आत्मनि" का अध्याहार करना ही दोष है इसलिये श्री सुबोधिनी में "भूतानि जातानि वा" यह पक्ष दिया, इसका अर्थ यह हुआ कि पृथ्वी में ही जल आदि पैदा होते हैं परन्तु पृथ्वी तो अधिकरणरूप में ही रहती है और नित्य आकाश से अतिरिक्त जल आदि भूत ही उसमें पैदा होते हैं। इस पक्ष के मान लेने पर श्लोक में आये चकार से यह दृष्टान्त लिया जा सकता है और इस पक्ष में पदों की आवृत्ति भी नहीं करनी पड़ती। शङ्का करते हैं कि "भौमानि" का भित्ति आदि अर्थ कर दूसरा पक्ष क्यों उठाया गया। इस का स्पष्टीकरण श्री प्रभु चरण ने "ननु भुवि" इत्यादि शंका करके किया है। श्री सुबोधिनीजी में आये "भूतानि-जातानि" में जो "जातानि" पद है उसका अर्थ यह है कि जल आदि पृथ्वी में पैदा होते हैं। इसमें जो दार्ष्टान्तिक अपेक्षित है उसका उल्लेख श्री प्रभुचरण ने "तथैतेष्वन्तः स्थित आत्मापि तथा" आदि से किया है।

श्री सुबोधिनीजी में जो "दृष्टान्त एव प्रवेश उक्तः" यह कहा है। यहां श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि "यथैव भूः" यह जो दृष्टान्त-निरूपक वाक्य हैं उसमें "भूतानि" पद का सम्बन्ध है और यह भी समझाते हैं कि श्लोक में आये "यथा भूः" पद का विवेचन श्री सुबोधिनी में इस प्रकार किया है कि जैसे पृथ्वी से पैदा होने वाले पदार्थ विकार को प्राप्त होते हैं किन्तु उनसे बाहिर रहने वाली पृथ्वी में विकार नहीं होता वैसे ही जलादि के अन्तः स्थित आत्मा में भी विकार नहीं होता। ऐसा अर्थ करने पर "न तथा एतेषु" इन पदों की आवृत्ति करनी चाहिये। यही बात "तथैतेष्विति भिन्नं वाक्यं" से कही है। इसी पक्ष में "एतेषु" इत्यादि पदों की श्री सुबोधिनी में

श्रीसुबोधिनी = नन्वेवमैकात्म्ये कथं लोके भेदव्यवहार इति चेत् तत्राह

अर्थ = शंका होती है कि जब एक ही आत्मा है तो लोक में देवदत्त की आत्मा भिन्न है और यज्ञदत्त की आत्मा भिन्न है ऐसा व्यवहार कैसे होता है अथवा "देवोऽहं" "मनुष्योऽह" आदि भेद व्यवहार कैसे होते है तो कहते हैं कि:—

प्रकारान्तर से व्याख्या करते हैं कि "एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियते" इसका अर्थ यह है कि जैसे मनुष्य आदि देहों के उत्पन्न होने पर भी उनसे पृथक् रहने वाली पृथ्वी विकृत नहीं होती उसी रूप में आत्मा में मी विकार नहीं होता यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि श्रीमदाचार्यचरण अब दूसरे प्रकार से अर्थ करते हैं कि "वर्षाकालोद्भवेषु" इन तृण आदि के उत्पन्न होने पर पृथ्वी में विकार होता है परन्तु पृथ्वी के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी में विकार नहीं होता। इस प्रकार यहां व्यतिरेक दृष्टान्त मानना चाहिये। पृथ्वी के भीतर अन्तर्यामी आत्मा रहता है, इसमें "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के भीतर रहने वाला उस पृथ्वी का अभिमानी आत्मा है परन्तु उसमें कोई विकार नहीं होता। यदि आत्मा के भी उत्पत्ति आदि मान लिये जाते हैं तो एक तृण रूप से आत्मा में विकृति हो गई तो फिर आत्मा के अवयव न होने से अंश का भेद तो कह नहीं सकते, तो दूसरे तीसरे तृण आदि में भिन्न २ आत्मा माननी होगी। ऐसी स्थिति में एक पृथ्वी रूप शरीर में अनन्त आत्माओं की कल्पना करनी होगी जैसे देह में रोमावली के भेद से आत्मा में कोई भेद नहीं है। उसी रूप में भूमि में भी एक ही आत्मा है उसके संबंन्ध से करोड़ों तृण आदि उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। त्वचा आदि गोलकों में लोभ आदि इन्द्रियां है उनकी अधिष्ठात्री जो औषधि आदि देवता है वह शरीराभिमानी आत्मा से भिन्न है इसलिये उन देवताओं के भेद से आत्मा भिन्न नहीं हो सकती।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुवे श्री वल्लभजी महाराज कहते हैं कि पृथ्वी से कृमि कीट आदि उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हें। यह अर्थ "यान्ति" इत्यादि पदों से लिया गया हे। देह और आत्मा के पक्ष में "यान्ति अपयान्ति" का अर्थ यह है कि देह आते जाते रहते हें परन्तु आत्मा में यह बात नहीं है। यहां विकार से अन्यथाभाव अर्थ लेना। श्री वल्लभजी महाराज श्लोक का अन्वय इस प्रकार करते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वी में भित्ति आदि बनते हैं और बिगड़ते हैं, उसी प्रकार जल आदि महाभूत जो पैदा हुए हैं वे आते हैं और जाते हैं परन्तु इनमें विद्यमान आत्मा न जाता है और न आता है। इस दृष्टान्त से आत्मा के आने जाने का निषेध किया है। दूसरे दृष्टान्त से आत्मा में विकार नहीं होता यह "न" तथा "एतेषु" इन तीन पदों की आवृत्ति कर यह अर्थ किया कि जैसे बाहिर रही हुई पृथ्वी विकृत नहीं होती वैसे ही इन पञ्च महाभूतों में रहने वाला आत्मा भी विकृत नहीं होता। परन्तु पृथ्वी में तो विकार देखा गया है इसलिये उक्त कथन में अरुचि आई तो श्री वल्लभजी कहते हैं कि "यथा भूः "के साथ" "न" कार का सम्बन्ध न कर व्यक्तिरेक दृष्टान्त से यह कहा कि जैसे पृथ्वी में विकार होता है वैसे आत्मा में विकार नहीं होता ॥ १६ ॥

श्लोकः — यथानेवं विदो भेदो यत आत्मविपर्ययः ।
देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते ॥२०॥

अर्थ = जिसे ठीक रुप से यह ज्ञात नहीं कि आत्मा एक है उसे भेद प्रतीति होती है और उसी भेद प्रतीति से आत्मा की अनित्यता, भिन्नता तथा देह के संयोग वियोग मालूम पड़ते हैं, और संसार भी उसी के कारण निवृत्त नहीं होता ॥ २० ॥

श्री सुबोधिनी = यथेति, यथायथावदनेवं विदो भेदो न त्वेवंविदः, आपातत एवंवित्त्वेपि भेदप्रतीतिर्न गच्छति इति यथेत्युक्तं, यथानेवंविद इति एकं पदं, समासान्तस्त्वनित्यः, भेदस्तु द्वित्वसाध्यः, न ह्येकस्मिन् भेदबुद्धिर्भवति, द्वित्वं त्वपेक्षाबुद्धिजन्यं, अतो द्वित्वं न वस्तुनिष्ठं किन्तु बुद्धिस्थविषयकमेव, बुद्धया बहिर्विषयोत्पादनासंभवात्, अतोऽज्ञानकृत एव भेदो भवति, अपेक्षाविषयाणामभावात्, निरपेक्षेष्वपेक्षाबुद्धिरज्ञानकृतैव, ननु 'भेदः पारमार्थिकः श्रुतिस्मृतिव्यवहारोपयोगित्वादात्मव' दित्यनुमानाद् भेदः पारमार्थिक एवेति चेत् तत्राह यत आत्मविपर्यय इति, यदि भेदः पारमार्थिकः स्यात् तत्कृतेन व्यवहारेणात्मविपर्ययो न स्यात्, अज्ञानस्य भेदोत्पादकत्वेनैवान्यथाबुद्धिहेतुत्वात् अन्यथा सुषुप्तावज्ञानस्य विद्यमानत्वादन्यथाबुद्धिर्भवेत्, किञ्च न केवलं विपर्ययमात्रजनकत्वं किन्तु देहयोगवियोगावपि भेदकृतावेव, यथा देवदत्तस्य यज्ञदत्तदेहे जाते गते वा स्वस्य न कापि विक्रियोत्पद्यत एवं स्वस्याप्यात्मन एकत्वे ज्ञाते नोत्पद्येत, चकारस्तु सर्वव्यवहारसमुच्चयार्थः, किञ्च भेदस्त्वपारमार्थिकः इति कार्यान्तराद्प्यवसीयते, तदाह संसृतिर्न निवर्तत इति, भेदज्ञाने विद्यमाने जन्ममरणयोर्विद्यमानत्वात् संसारो न निवर्ततेऽत आत्मनोऽविकृतत्वं ज्ञातव्यं तदविकृतत्वमपरिच्छेदकूटस्थत्वव्यतिरेकेण न सिध्यतीति कूटस्थो व्यापकोऽविकृत आत्मा ज्ञातो भवति, तस्मिन् ज्ञाते शोको न संभवति ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ = जिसे ठीक रूप से आत्मा की एकता का ज्ञान नहीं है वह भेद समझता है और जो आत्मा एक है ऐसा ठीक रूप से समझता है उसको भेदज्ञान नहीं होत । ऊपर २ से यदि कोई ऐसा समझता है तो भी उस की भेद प्रतीति नहीं जाती इस लिये "यथानेवंविदः" में यथा पद लगाया है अर्थात् वास्तव से जिस को एक ही आत्मा है ऐसा ज्ञान है उसे भेद प्रतीति नहीं होती। श्लोक में "यथानेवंविदः" ऐसा समस्त एक पद है । यहां समासान्त कप्रत्यय इसलिये नहीं हुआ कि "शेषाद्विभाषा" में विभाषा पद है इस लिये उस से विकल्प से 'क' प्रत्यय होता है। जहां द्वित्व होता है वहां ही भेद होता है अर्थात् द्वित्व से ही भेद-प्रतीति होती है इस लिये यह नहीं मानना चाहिये कि भेद से द्वित्व-प्रतीति होती है । इस में कारण यह है कि जब एकव्यक्ति को देखते हैं तो "अयं एकः" यह एक है ऐसा ही व्यवहार होता है किन्तु "अयं अभिन्नः" यह व्यवहार नहीं होता । द्वित्व अपेक्षा बुद्धि से होता है जैसे यज्ञदत्त से देवदत्त दूसरा है। यहां जो देवदत्त को द्वितीय बताया वह यज्ञदत्त की अपेक्षा से बताया है। इसलिये मानना चाहिये कि 'द्वित्व' वस्तु में रहने वाला नहीं है किन्तु बुद्धिगत ही है। बुद्धि

पदार्थ को बाहिर पैदा नहीं कर सकती अतः यह मानना चाहिये कि अज्ञानकृत ही भेद है क्योंकि एक आत्मा होने से आत्मा अपेक्षा बुद्धि का विषय नहीं है क्योंकि अपेक्षा बुद्धि अनेक होने पर होती है अथवा यों कहिये कि आत्मा "अहं" इस ज्ञान का ही विषय है, अपेक्षा बुद्धि का विषय नहीं है। अतः वहां अपेक्षा बुद्धि अज्ञान से ही होती है। यहां पूर्वपक्ष करते हैं कि भेद वास्तविक है क्योंकि भेद न मानने से श्रुति एवं स्मृति का व्यवहार नहीं चल सकता। इस पर कहते हैं कि "यत आत्मविपर्ययः" आत्मा नाश और उत्पत्तिवाला तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न २ है ऐसा जो ज्ञान है वह अन्यथा ज्ञान है। इस अन्यथा ज्ञान को मान लेते हैं तो उत्पन्न होते ही बालक माता के स्तन पीने में कैसे प्रवृत्त होता है। इस से मानना चाहिये कि वह पूर्वजन्म के संस्कार से ही स्तनपानादि में प्रवृत्त होता है। इस से सिद्ध हुआ कि आत्मा नित्य है और संपूर्ण शरीर में चैतन्य की उपलब्धि होने से व्यापक भी है परन्तु ऐसा अनुमान करने पर भी पूर्वोक्त विपरीतज्ञान भेद से किये गये व्यवहार से ही होता है। अतः यह उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है। यदि उत्पन्न एवं नाश होना नहीं मानते है तो व्यवहार में अपने को अथवा दूसरे को किसी के उत्पन्न होने पर हर्ष नहीं होना चाहिये और नष्ट होने पर शोक नहीं होना चाहिये। इस से सिद्ध हुआ कि भेद व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं है। यह नियम है कि जो पारमार्थिक नहीं होता वह संसार का कारण होता है। भेद संसार का कारण है इस लिये वह पारमार्थिक नहीं है। इस अनुमान से न आत्मा का भेद सिद्ध होता है और न आत्मा उत्पन्न एवं नष्ट ही होती है। यदि कहें कि आत्मा को उत्पत्ति-विनाश-शाली एवं प्रति शरीर में भिन्न २ मानना इस में अज्ञान ही कारण है, भेद कारण नही है। इस काउत्तर देते हैं कि "आज्ञानत्वेन अज्ञान" अन्यथा बुद्धि का कारण नहीं है किन्तु अज्ञान से भेद होता है और भेदज्ञान से अन्यथा बुद्धि होती है। यदि अज्ञान से ही अन्यथा बुद्धि होती है ऐसा मान लेते हैं तो सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान होने से अन्यथा बुद्धि होनी चाहिये परन्तु वहां अन्यथा बुद्धि नहीं होती। इससे समझते हैं कि भेद ही अन्यथा बुद्धि में कारण है। सुषुप्ति दशा में भेद नहीं है इस लिये वहां अन्यथा बुद्धि नहीं होती। भेद केवल विपरीत ज्ञान को ही पैदा नहीं करता किन्तु किसी देह का सम्बन्ध एव वियोग भी भेदज्ञान से ही होता है जैसे यज्ञदत्त के देह के उत्पन्न होने पर एवं नष्ट होने पर देवदत्त में कोई विकार नहीं होता इसी प्रकार आत्मा के नित्य होने से पूर्व देह में और दूसरे देह में एक ही आत्मा है ऐसा जान लेने पर विकार नहीं होता। व्यावहारिक भेद मान कर ही "श्यामोऽह" "गौरोऽहं" मैं श्याम हूं मैं गौर हूँ इत्यादि व्यवहार होते हैं। और एक बात यह भी है कि भेद पारमार्थिक नहीं है यह बात दूसरे कार्य से भी सिद्ध होती है। यदि भेद वास्तविक हो तो जन्म मरण के होते रहने से संसार सदा रहना चाहिये परन्तु वह सदा नहीं रहता। इससे मानना चाहिये कि भेद वास्तविक नहीं है। अतः समझना चाहिये कि आत्मा अविकृत है परन्तु उसका वह अविकृतत्व तब ही सिद्ध होगा जब उसे अविकारी एवं कूटस्थ (सदा एक रस वाला) मानें। इन सब युक्तियों से आत्मा कूटस्थ, व्यापक एवं अविकृत ज्ञात होता है और ऐसे आत्मा के जानने पर शोक नहीं होता ॥२०॥

श्री सुबोधिनी = तत्तु भवद्भ्यां ज्ञायते एवेति शोको न कर्तव्य एवेत्याह

अर्थ — अब कंस कहता है कि आप दोनों आत्मा–व्यापक, कूठस्थ और अविकारी है यह जानते ही हैं इसलिये आप को शोक नहीं करना चाहिये।

श्लोकः— तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि ।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेऽवशः ॥२१॥

अर्थ — हे कल्याणरूपिणी देवकी ! मेरे द्वारा मारे गये अपने पुत्रों का तथा स्वयं का शोक न कर क्योंकि अपने २ कर्मों के अनुसार विवश हो कर सब ही फल भोगते हैं ॥२१॥

श्री सुबोधिनी = तस्मादिति, वसुदेवस्तु शोकं न करिष्यतीति देवकीसंबोधनं भद्रइति, अतः परं तव कल्याणमपत्यं च भविष्यतीति ज्ञापितं, स्वतनयान् देवकीतनयान् मानुशोच, प्रथमत आत्मानं शोचति ततः पुत्रमित्यनुपदं, यद्यपि ते स्वकर्मवशादेव मृता न तु मया व्यापादितास्तत्कर्मैव मां च प्रेरितवदथापि बहिर्दृष्ट्या मयैव व्यापादिता इत्यङ्गीक्रियते तथापि मा शोचेत्याह मया व्यापादितानपीति, अननुशोके बहिर्मुखानामप्येकास्त्युपपत्ति स्तामाह यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेऽवश इति, अनिच्छन्नपि परवश एव कर्माधीनो भूत्वा सर्वोपि स्वकृतं भुंक्ते, अस्य मते न सृष्टेश्चातुर्विध्यं, भुञ्जत इति बहुवचनप्रयोग एकवचने देहभेदेन भोगेन नानात्वप्रतीतेः सिद्धत्वज्ञापनाय, अनेन मयापि बहिर्मुखत्वेन कृतं कर्म भोक्तव्यमित्यविचारितोऽपि दण्डो भविष्यति इति दण्डाभावेनापि चिन्ता न कर्तव्या ॥२१॥

व्याख्यार्थ = कंस का यह विचार है कि वसुदेवजी ज्ञानी होने से शोक नहीं करेंगे अतः देवकी को ही समझाना चाहिये। इसलिये देवकी से कहता है कि हे भद्रे अर्थात् हे कल्याण रूपिणी देवकी, तूँ कल्याणरूपा है अतः आगे भी तेरा कल्याण ही होगा और सन्तान भी होगी इसलिये तूँ पुत्रों का शोक न कर। पहिले तूँ अपना शोक करती है बाद में पुत्रों का इस बात को सूचित करने के लिये श्लोक में आये "अनुशोचः" पद में अनु उपसर्ग लगाया है। यद्यपि तेरे लड़के अपने कर्मों के अधीन होकर ही मरे हैं, मैंने उन्हें नहीं मारा है क्योंकि उनके कर्मों ने ही मुझे प्रेरित किया था ऐसी दशा में भी यदि तूँ यह समझती है कि तूँ ने ही मेरे पुत्रों को मारा है तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिये। शोक न करने में बहिर्मुखों के लिये एक युक्ति है कि नहीं चाहते हुए भी पराधीन होकर सभी अपने किये हुए कर्मों के अनुसार ही फल भोगते हैं। कंस यह नहीं समझता है कि "पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा एवं सदा अस्थिर रहने वाले" चार प्रकार के जीव हैं कारण यह है कि दैत्यों के मत में ऊपर कही गई चार प्रकार की सृष्टि नहीं मानी गई है। तात्पर्य यह है कि कंस यदि यह समझता कि पुष्टि जीव भी हैं और वे कर्म के अधीन नहीं होते तो साधारणरूप से यह नहीं कहता कि कर्म के अधीन होकर सबको

फल भोगना पड़ता है अतः यह समझना चाहिये कि दैत्य उक्त चार प्रकार की सृष्टि नहीं मानते।[1] श्लोक में एकवचन के स्थान पर "भुञ्जते" यह बहुवचन दिया है इससे सूचित किया गया कि सब ही के देह भिन्न २ होने से अनेक प्रतीति सिद्ध है क्योंकि अनेक देहों से भोग होते हैं। इस सब कथन से कंस यह भी सूचित करता है कि भगवत्प्रेरणा से यह कार्य हुआ है। ऐसा वास्तविक रूप से नहीं समझने से, और मेरे में कर्तृत्व का अभिमान होने से तुम मेरे लिये दण्ड का विचार नहीं भी करोगे तो भी मुझे दण्ड मिलेगा ही अतः आपको यह भी चिन्ता नही करनी शहिये कि कंस को इस दुष्कर्म का दण्ड नहीं मिलेगा ॥ २१ ॥

श्री सुबोधिनी = ननु त्वया ज्ञानमुपदिष्टं, उपदेष्टुर्दृढं ज्ञानं भवतीति न तव दण्डसंभावनेति चेत्तत्राहः—

अर्थ = आप यदि यह कहें कि तूँ ज्ञान का उपदेश देनेवाला है इसलिये तेरे में दृढ़ ज्ञान होने से तूं दण्ड भागी नहीं होगा तो कंस कहता है कि:—

श्लोकः— यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मान मन्यते स्वदृक्।
तावत् तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात् ॥२२॥

अर्थ = शास्त्रीय ज्ञान होने पर भी जब तक देहाध्यास वश यह मानता है कि मैं इस से मारा गया और मैं इसे मारनेवाला हूं तब तक वह मरनेवाला और मारनेवाला होता ही है क्योंकि उसने ज्ञान को अपने में क्रियान्वित नहीं किया है ॥ २ ॥

श्रीसुबोधिनी = यावदिति, यावदयं जीवः शास्त्रोत्पन्नज्ञानोऽपि हतोस्मि हन्तास्मीत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं वा मन्यते तावद् बाध्यबाधकतामियादेव, कर्मत्वे बाधकत्वमिति,* अक्रिय आत्मनि यथैव क्रियां मन्यते तथैव क्रिया प्राप्नोतीत्यर्थः, नन्वविद्यमानधर्मप्रतीतौ को हेतुस्तत्राहास्वदृगिति, न स्वस्मिन् दृष्टिर्यस्य, शास्त्रज्ञानं शास्त्रीयत्वेनैव जानाति न तु स्वविषयत्वेन, ततोपि किमत आह तावत् तदभिमानी भवतीति, स्वरूपे ज्ञाते देहाद्यध्यासो न भवति, अध्यासे पुनः स्वरूपाज्ञानमिति तदभिमान्यज्ञ एव भवति, अतो बाध्यबाधकभावः ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ = शास्त्र का ज्ञान होने पर भी जोव जब तक यह मानता रहता है कि मैं मारा गया और मैं मारने वाला हूं तब तक स्वयं दुःख भोगता है और दूसरों को दुःख देता है। "हतोऽस्मि" से

---

[1] यहां श्रीं वल्लभजी महाराज कहते हैं कि काल, कर्म, स्वभाव एवं भगवदिच्छा से सृष्टि होती है यह बात कंस नहीं मानता।

*टिप्पणी— बाध्यत्वमिति पाठः प्रतिभाति।

व्यापार जन्य जो प्राणवियोगरूप फल का आश्रय कहने से बाध्य (मरने वाला) होता है और "हन्तास्मि" से व्यापाराश्रय कहने से बाधक (दूसरों को मारने वाला) माना जाता है। निष्क्रय आत्मा में जैसी ही वह क्रिया मानता है वैसी ही क्रिया को प्राप्त करता है । शङ्का करते हैं कि मिथ्या बाध्य बाधकत्व धर्म की प्रतीति में क्या कारण है तो कहते हैं कि उसे आत्मज्ञान नहीं है । यद्यपि शास्त्रीय ज्ञान उसे है तो भी वह उस ज्ञान का विषय नहीं बनता अर्थात् वह अपने में उस ज्ञान को क्रियान्वित नहीं करता इसलिये अपने को फलाश्रय और व्यापाराश्रय मानता है । ऐसा मानने से क्या होता है तो कहते हैं कि देहाभिमानी होने से वह अपने को मरनेवाला एवं मारनेवाला मानता है। यह सब कुछ आत्मज्ञान न होने से होता है। आत्मज्ञान होने पर तो देह आदि में अध्यास नहीं रहता और अध्यास के रहने पर मैं कौन हूँ यह ज्ञान नहीं रहता अर्थात् स्वरूपाज्ञान हो जाता है । शरीर का अभिमानी होने से ही वह अज्ञ है और उसे ही मैं ने मारा और मैं इससे मारा गया यह अज्ञान रहता है ॥ २२ ॥

श्री सुबोधिनी = एवं भवद्बालकानामस्माकं च कर्मवशात् सर्वं जातं भविष्यति च अतः शोको दण्डो वा न चिन्तनीयः परमतिक्रमदोषो मदीयः सोढव्य इति वदन् क्षमापनार्थं नमस्कारंकरोति ।

अर्थ — इस प्रकार आपके बालकों को कर्मवश फल मिला है और मुझे भी फल मिलेगा ही अतः आप पुत्रों का शोक न करें और मेरे लिये दण्ड का विचार न करें क्योंकि मुझे भी कर्मवश स्वतः दण्ड मिल ही जायगा परन्तु मैं ने जो आप का अतिक्रमण किया है उसे सहन करें । इस प्रकार कहता हुआ वह कंस क्षमा चाहने के लिये देवकीजी वसुदेवजी को नमस्कार करता है ।

श्लोकः-- क्षम्यतां मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः ।

। श्री शुक उवाच ।

इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत् ॥२३॥

अर्थ — मैं ने जो बिना विचारे अन्याय किया है उसे क्षमा करें क्योंकि आप साधु होने से दीनों से प्रेम करने वाले है । श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार कह कर वह कंस, जिसके मुख तक आंसू आ रहे हैं, अपनी बहिन और बहनोइ के पैरों में पड़ गया ॥२३॥

श्री सुबोधिनी = क्षमध्वमिति, मम दौरात्म्यं क्षमध्वं, अविचारेणान्यायकर्ता दुरात्मा, अत आज्ञोल्लङ्घनं पुत्रमारणादिकं च यत् कृतं तत् सर्वं क्षमध्वं, महतां हृदयेऽनुशये स्थिते शोको भूयान् भवति, क्षमापनार्थं न किञ्चित् दातव्यं, यतः साधवो दीनेषु वत्सलाः, मम च दीनत्वमपकीर्तिनरकभाक्त्वेन, स्वस्य दैन्यं न केवलं वचनेन निरूपितं किन्तु रूपेणापि तदभिव्यक्तिं कृतवानित्याहेत्युक्त्वाश्रुमुखो जात इति, अश्रूणि मुखे यस्य, विकलत्वात् प्रोञ्छनमपि न करोति, यद्ययमकर्तव्यमपि कनिष्ठभगिन्याः पादग्रहणं करोति तदान्यत् किं न कुर्याद् गृहीतधनादिदानं वातिरिक्तदानं वा ? स्वसृशब्दे नैव स्वसृतत्पती अभिधीयेते इति तत्सम्बन्धादेव वसुदेवस्य मान्यत्वात् साक्षात् तं प्रति नमस्कारेपि दोषाभावादेकस्या एव पादौ द्विवद्गृहीतवानिति ज्ञापयितुमेकशेषः एकशेषशास्त्रे "पुमान् स्त्रिये" त्यादिसूत्रेषु चतुर्षु तृतीया ज्ञापयति 'अप्रधानं न शिष्यते' इति, अन्यथा "स्त्रीपुरुषाभ्या" मितिप्रयोगो न स्यात् 'स्त्रीपुंभ्यां' मिति च, अत्रापि तद्भर्त्रा सहिता स्वसैवावशिष्यते, अथेति भिन्नप्रक्रमो दैत्यावेशस्य राजसभावस्य च त्यागार्थः ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ = मेरी दुरात्मता को क्षमा करें। जो बिना विचारे अन्याय करने वाला है वह दुरात्मा है। मैंने बिना विचारे अन्याय किया है इसलिये मैं दुरात्मा हूँ। इसीलिये मैंने आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन किया है और पुत्रों को मारने आदि कुकृत्य किये हैं। आप उन सबको क्षमा करें। महापुरुषों के हृदय में पश्चात्ताप रहने पर महान् शोक होता है अतः क्षमा करें। इसके लिये आपको कुछ देने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि आप साधु होने से दोनों से स्वतः प्रेम करने वाले हैं। मैं अपकीर्ति होने से नरकभागी हूँ अथवा यों कहिये कि मेरी अकीर्ति है और मैं नरक भागी हूँ अतः दीन हूँ। इस प्रकार कंस ने वचन से ही दीनता नहीं दिखाई किन्तु स्वरूप से भी दीनता दिखाई। इस बात को बताने के लिये कहा कि "अश्रुमुखः" आंसू जिसके मुँह तक आ रहे हैं। यहां "अश्रुमुखः" पद से यह भी सूचित होता है कि अधिक विकल होने से आंसूओं को भी नहीं पूछ सकने से मुँह पर आँसू ज्यों के त्यों दीख रहे हैं। कंस इस समय छोटी बहिन के भी पैरों को पकड़ कर अकर्तव्य अर्थात् छोटी बहिन के पैरों में बड़े भाई को नहीं झुकना चाहिये सो भी कर रहा है तो उनके छीने हुए धन को देना अथवा उससे भी अधिक धन देना उसके लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। श्लोक में आये "स्वस्त्रोः" पद के विचार में कहते हैं कि स्वसृ शब्द से अभिधावृत्ति के द्वारा बहिन देवकी और वसुदेवजी नहीं कहे जा सकते क्योंकि पाणिनि का ऐसा सूत्र नहीं है कि स्वसृ और पति शब्द के समस्त होने पर एक शेष हो। यहाँ "स्वस्त्रोः" कहने का यह अभिप्राय है कि देवकीजी के सम्बन्ध से ही वसुदेवजी मान्य हुए हैं क्योंकि कन्या पक्ष वाले कन्या को ही मुख्यता देते हैं अतः उसकी मुख्यता बताने के लिये स्वसृ शब्द का ही निर्देश किया गया है। यद्यपि वसुदेवजी के मान्य होने से उनको भी साक्षात् प्रणाम करने में कोई दोष नहीं है तो भी कंस ने देवकी के पैरों को ही मानो दोनों के पैर समझ कर पकड़ा। इस बात को बताने के लिये यहां स्वसृ और पति

शब्द का एक शेष किया है[1]। यद्यपि पाणिनि का कोई ऐसा सूत्र नहीं है जिससे यहां एक शेष हो परन्तु "पुमान् स्त्रिया" आदि चार सूत्रों में तृतीयान्त का ही निर्देश है। इससे सामान्यरूप से यह ज्ञापन करेंगे कि जो अप्रधान होता है वह विरूप होने पर भी नहीं रहता। यहां स्वसृ शब्द का अर्थ प्रधान है इसलिये अप्रधानार्थक पति शब्द नहीं रहा। यदि कहें कि तृतीया से यही कैसे समझ लिया तो कहते हैं कि यदि ऐसा नियम मान लेते हैं कि विरूप के एकशेष में स्त्रीवाचक शब्द के साथ कहा गया पुरुषवाचक शब्द ही शेष रहता है तो "स्त्रीपुरुषाभ्यां" और "स्त्रीपुंभ्यां" की जगह "पुरुषाभ्यां" "पुंभ्यां" ये ही प्रयोग होंगे परन्तु ऐसी जगह पर ये ही प्रयोग नहीं देखे गये हैं किन्तु स्त्री पुरुषाभ्यां, स्त्री पुंभ्यांम्, ऐसे भी प्रयोग देखे हैं (इसलिये सामान्यरूप से यह ज्ञापन करना कि अप्रधान नहीं रहता परन्तु ऐसा मानने पर "स्त्रीपुंसौ" आदि प्रयोग नहीं होंगे। इससे यहां यह ज्ञापन होना चाहिये कि जहां दोनों की प्रधानता विवक्षित हो वहां विरूप में एक शेष नहीं होता जैसे स्त्री पुरुषाभ्यां स्त्रीपुंभ्याम् को एक शेष नहीं हुआ क्योंकि यहां दोनों ही प्रधान हैं और जहां एक अप्रधान रहे वहां एकशेष होता है। "जैसे स्वस्रोः" यहां एक का अप्राधान्य विवक्षित है इसलिये "स्वसृ" शब्द ही बाकी रहा। वैयाकरण जैसा लक्ष्य देखते हैं वैसा ही नियम बना लेते

---

[1] श्रीधर स्वामी ने यहां कहां है कि मिश्रित लक्षणा से स्वसृ शब्द से पति का भी अभिधान है अर्थात् अभिधा वृत्ति से स्वसृ शब्द से पति भी लिया गया है परन्तु पुरुषोत्तमजी महाराज इस का खण्डन करते हैं कि स्वसृ शब्द से अमिधा वृत्ति से पति का बोध नहीं हो सकता क्योंकि "स्वसृ" शब्द का पति अर्थ अभिवेय नहीं है किन्तु बहिन अर्थ हीं अभिधेय (वाच्य) है। यदि कहें कि द्वित्व विवक्षा में स्वसृ-स्वसृ-औ ऐसे मानने पर एक स्वसृशब्द अभिधा से बहिन वो कहेगा और दूसरा स्वसृ शब्द लक्षण से पति अर्थ को कहेगा तो कहते हैं कि ऐसी स्थिति में एकशेष हो ही नहीं सकता क्योंकि वाचक और लक्षक का कहीं भी एक शेष नहीं देखा गया है। उपर्युक्त सब भाव को लेकर श्रीसुबोधिनीजी में "नैव अभिधीयेते" ऐसा कहा है।

शङ्का होती है कि "श्यालःस्वस्रोः" के स्थान पर "भामः स्वस्रोः" ऐसा पाठ मानने से भाम पद से बहिनोई लिये जाने से श्याला अर्थ अपने आप ले लिया जायेगा तो न एकशेष का झगड़ा रहेगा और न श्याला अर्थ लेने में ही अड़चन आयेगी तो फिर उपर्युक्त पाठ न मान कर "श्यालःस्वस्रोः" पाठ मानने में व्यासजी का क्या आशय है तो कहते हैं कि यहां स्वसृ शब्द से ली गई बहिन प्रधान है, उससे बहिनोई भी ले लिये जायंगे। इसी आशय से व्यासजी ने ऐसा कहा है।

शंका होती है कि समानरूप हो तो "सरूपाणां" सूत्र से एकशेष हो सकता है परन्तु स्वसृ और पति शब्द का सारूप्य न होने से एकशेष कैसे होगा तो कहते हैं कि यहां "स्वसा च पतिश्च स्वसारौ" ऐसा विग्रह मानना चाहिये। और पुमान् स्त्रिया आदि चार सूत्रों में आदि तृतीया से ज्ञापन करना चाहिये कि विरूप के एक शेष में जो अप्रधान विवक्षित हो वह नहीं रहता। ऐसा मानने पर उपर्युक्त विग्रह करने पर दोष नहीं आता।

हैं क्योंकि 'लक्षपैकचक्षुष्कत्व'' पक्ष को ही उन्होंने माना है अर्थात् वे जैसा लक्ष्य देखते हैं वैसा ही नियम बनाते हैं)

श्लोक में आये "अथ" शब्द का भाव यह है कि कंस अब कुछ और ही हो गया है क्योंकि अब उसमें कालनेमि का आवेश नहीं रहा और राजस भाव भी उसका निवृत्त हो गया ॥ २३ ॥

श्री सुबोधिनी = निरोधं च दूरीकृववानित्याह :

अर्थ = कंस ने देवकी वसुदेवजी को बन्धन से छुडा दिया यह बात अब कहते हैं ।

श्लोकः— मोचयामास निगडान् विस्रब्धः कन्यकागिरा ।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम् ॥ २४ ॥

अर्थ = अपना सौहाद्र दिखाते हुए उस कंस ने योगमाया के वाक्य पर विश्वास कर अर्थात् देवकी वसुदेवजी निर्दुष्ट हैं ऐसा समझकर देवकी वसुदेवजी को लोह की शृङ्खला से छुडा दिया ॥ २४ ॥

श्री सुबोधिनी = मोचयामासेति, निगडौ स्तंभबद्धावतो निगडान् मोचमायासेत्युक्तं, अर्थादुभावपि, तत् तु बन्धनागारं भवतीति न निगडदूरीकरणं, नन्वेतावक्षुब्धावाकाशवाणी च प्रमाणमत एताभ्यामेव किञ्चत् कापट्यं कृतमस्ति इति कथं न विचारितवांस्तत्राह विस्रब्धः कन्यकागिरेति, कन्यका या माया तस्या वचनं असत्यमपि संभाव्यते तथापि तत्रैव विश्वासं कृतवान्, "यत्र क्वचि" दिति । "कृपणा" मिति लिङ्गवचने देवक्या दोषाभावसूचके, वसुदेवेनैव तथा कृतत्वात्, अन्यथास्फूर्तिकर्तृत्वं तु मायायाः सिद्धमेव, प्रथमतो देवकीं पश्चाद् वसुदेवं चकारात् तत्सम्बन्धिनश्च स्वयं परिचर्यां कुर्वन्नात्मनः सौहृदं च दर्शयन् जातः ॥ २४ ॥

याख्यार्थ = वह बन्धन करने का स्थान था अतः दूसरों को बांधने के लिये शांकल की आवश्यकता होने से स्तंभ से बन्धी हुई शांकल को नहीं तोडा किन्तु उन्हीं को उससे छुडा दिया । शङ्का करते हैं कि इतना दण्ड देने पर भी देवकी वसुदेवजी के क्षुब्ध न होने से तथा मारने वाले बालक के होने में आकाश-वाणी प्रमाण होने से कंस ने यह क्यों नहीं समझ लिया कि वसुदेव देवकी ने ही कुछ कापट्य किया होगा तो कहते हैं कि "विश्रब्धः कन्यकागिरेति" उस कन्या की वाणी पर विश्वास करके ही उन्हें छोड दिया । यद्यपि वह कन्या माया है इसलिये उसके वचन असत्य भी हो सकते हैं तथापि उसने कन्या के वाक्य में ही विश्वास किया । पूर्व में जो "यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा" यह पद्यार्द्ध है उसमें आये "कृपणां" पद में स्त्रीलिङ्ग और एक वचन है इसलिये आकाशवाणी ने यह बता दिया कि देवकी का इस में कोई दोष नहीं है क्योंकि जो भी कुछ किया वसुदेवजी ने ही किया है यही माया का

आशय था। माया का स्वभाव है कि वह अन्यथा स्फूर्ति करा देती है। कंस ने पहले देवकी को छोडा और पीछे वसुदेवजी को। साथ में उन्हें भी छोड दिया जो वसुदेवजी के सम्बन्धी थे। उस समय कंस स्वयं उनकी सेवा कर रहा है और अपना सौहार्द भी दिखा रहा है ॥ २४ ॥

श्री सुधोधिनी = प्रसादे प्रार्थिते ताभ्यां प्रसादः कृत इत्याह :

अर्थ = जब कंस ने उनकी प्रसन्नता चाही तो देवकी वसुदेवजी उस पर प्रसन्न हो गये यह कहते हैं —

श्लोकः— भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्त्वा रोषं च देवकी।
व्यसृजद् वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह ॥२५॥

अर्थ = भाई को अधिक पश्चात्ताप युक्त देखकर देवकी ने उसके रोष को क्षमा कर दिया और अपने रोष को छोड़ दिया, वैसे ही वसुदेवजी एवं अन्य लोगों ने भी किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि वसुदेवजी उससे हँसकर बोले ॥ २५ ॥

श्रीसुबोधिनी = भ्रातुरिति, सम्यगनुतप्तस्य पश्चात्तापेन तप्तस्य तत्रापि भ्रातुः सम्बन्धिरोषं क्षान्त्वा क्षमित्वा, क्षान्तरोषा वा, तत्कृतं पूर्वापराधं व्यसृजद् रोषं वा, पाठभेदात्, तदीयो रोषः सोढः स्वकीयं तु त्यक्तवती, कृतकार्यस्य तद्रोषस्य सहनं, अकृतकार्यस्य स्वकीयस्य परित्यागः, एवं वसुदेवश्च, चकारादन्येऽपि, रोषमपराधं च क्षान्त्वा, यतो देवकी देवतारूपा, वसुदेवोऽपि तथा, तस्यास्तु शोकाभावो मुखप्रसादेनैवज्ञातः, वसुदेवस्तु गूढहृदय इति कदाचिदप्रसन्नोभवेत् इति आशंक्य हास्यं वचनं चाह प्रहस्य तमुवाचेति, हेत्याश्चर्यं पुत्रमारकस्त्वसंभाव्य इति ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ = भाई पश्चाताप से सन्तप्त हुआ, भाई होने से सम्बन्धी है। सम्बन्धी के रोष को क्षमा करना चाहिये इस विचार से उस के रोष को क्षमा कर अथवा श्लोक में "क्षान्त्वा रोषं" की जगह "क्षान्तरोषा" भी पाठ मान लेते हैं तो यह अर्थ होगा कि जिस ने रोष को सहन कर लिया है (दबा दिया है)। श्लोक में "क्षान्त्वा दोषं" भी पाठ हो सकता है। इस पाठ के मानने पर यह अर्थ होगा कि कंस के अपराध को क्षमा कर उस से किये गये पूर्व अपराध को मन में नहीं रखा। श्लोक में "रोषं" भी पाठ है इस लिये यह भी अर्थ होगा कि उस के किये हुए रोष को मन में नहीं रखा। देवकी ने कंस के रोष को सहन किया और अपने रोष को छोड़ा। जिस रोषने पुत्र मरवा दिये ऐसे कंस के रोष को सहन किया अर्थात् कस का रोष ऐसा है जिस ने अपना कार्य कर दिखाया है, ऐसे कंस के रोष को सहन किया और जिसने कुछ भी कार्य नहीं किया ऐसे अपने रोष को छोड़ दिया। इसी प्रकार वसुदेवजी ने भी किया। श्लोक में आये "च" कार का भाव यह है कि जिन २ को उस ने छोड़ा उन सब ने ऐसा ही किया। देवकी ने रोष अथवा अपराध को क्षमा किया क्यों कि

देवकी है अर्थात् देवतारूप है। वसुदेवजी भी ऐसे ही हैं। देवकी का शोक नहीं रहा यह उस के मुख की प्रसन्नता से जान लिया परन्तु वसुदेवजी पुरुष होने से गूढ हृदय है इस लिये कदाचित् ये अप्रसन्न हो ऐसे कंस के विचार को हटाने के लिये वसुदेवजी हँस कर बोले। इसी बात को "प्रहस्य तमुवाच" से कहा है। श्लोक में आया "ह" पद आश्चर्य अर्थ में है अर्थात् पुत्र मारने वाले से बात भी करना उचित नहीं है इस लिये वसुदेवजी को कंस से बोलना ही नहीं चाहिये था परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि ऐसे कुकृत्य करने वाले से भी बात की ।।२५।।

श्रीसुबोधिनी = तदुक्तं ज्ञानं तस्यैव हृदयारूढं भवत्विति तस्यानुमोदनं करोति।

अर्थ = कंस से कहा गया ज्ञान उसी के हृदय में जमे (स्थिर हो) इसलिये उसका अनुमोदन करते हैं।

। वसुदेव उवाच।

श्लोकः— एवमेतन्महाराज यथा वदसि देहिनाम्।
अज्ञानप्रभवाहन्धीः स्वपरेति भिदा यतः ।।२६।।

अर्थ = वसुदेवजी कहते हैं कि हे महाराज कंस जैसा तुम कहते हो वैसा ही है क्योंकि प्राणियों को देह आदि में अहं बुद्धि अज्ञान से ही होती है और उसीसे यह अपना है यह दूसरे का है ऐसी भेद दृष्टि होती है ।। २६ ।।

श्री सुबोधिनी = एवमेतदिति, महाराजेति सम्बोधनं मारणस्यादोषज्ञापनार्थं यत् त्वमात्थैवमेतत् तन्निष्पिण्डितमनुवदति देहिनामज्ञानप्रभवाहन्धीरिति, देहादावहम्बुद्धिरज्ञानादेव जायते, तस्मात् स्वपरेतिभिदा स्वः पर इति, एतन्मूलक एव सर्वोपि व्यवहारः, देहिनामिति देहाध्यासवतां; अहङ्कारस्याज्ञानजनितत्वे देहाध्यासः प्रयोजक इत्यधिकारित्वेन निरूपितः अन्यथाज्ञानमहंबुद्धिः, तदज्ञानकृतं, अन्यथा स्वरूपे भासमाने अन्यन्न भायात् ।। २६ ।।

व्याख्यार्थ = वसुदेवजी ने कंस को हे महाराज इसलिये कहा है कि राजा दण्ड देता है परन्तु उसे मारने का दोष नहीं लगता इसलिये तुम्हें मेरे पुत्रों को मारने का दोष नहीं लगेगा। हे महाराज जैसा तुम कहते हो वही ठीक है। कंस के वाक्यों का सार वसुदेवजी कहते हैं कि देहाध्यासवालों को देह आदि में अहं बुद्धि अज्ञान से ही होती है और उसी से यह अपना है यह पराया है आदि सभी व्यवहार होते हैं। श्लोक में आये "देहिनां" का यह अर्थ है कि जिनको देहाध्यास है तात्पर्य यह है कि जिनको देहाध्यास है उनको अहंबुद्धि होती है। अहङ्कार अज्ञान से होता है इसमें देहाध्यास ही कारण है। इससे यह कहा गया कि जिसको देहाध्यास है वही अहंबुद्धि करने का अधिकारी होता है। देह में जो

आत्मबुद्धि है वह अन्यथाज्ञान है और वही अहं बुद्धि है। अन्यथा ज्ञान अज्ञान से होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो आत्मा के भान में उससे भिन्न शरीर का भान कैसे होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि अज्ञान से ही यह सब कुछ होता है ॥ २६ ॥

श्री सुबोधिनी= एवं तदुक्तं ज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकोपयोगित्वेन निरूप्य स्वसिद्धान्तसिद्धं ज्ञानं कृपयोपदिशति।

अर्थ = कंस से बताया गया ज्ञान, यह वस्तु नित्य है और यह अनित्य है इस ज्ञान का उपयोगी है। ऐसा निरूपण कर वसुदेवजी अब कंस पर कृपा करते हुए अपने सिद्धान्त-सिद्ध ज्ञान का उपदेश देते हैं।

श्लोकः— शोकहर्षभय द्वेषलोभमोहमदान्विताः।
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः ॥२७॥

अर्थ = वसुदेवजी कहते हैं कि जो लोग शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं मद से युक्त हैं वे परस्पर में अर्थात् एक धर्म में प्रविष्ट होकर दूसरे धर्म को नष्ट कराते हुए भगवान् को नहीं देखते। कारण यह है कि वे भगवान् में इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं मानते। वे मानते हैं कि इन्द्रियवाला जीव ही कर्त्ता हो सकता है निरिन्द्रिय भगवान् कर्ता नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

श्री सुबोधिनी = शोकेति, अत्र वस्तुतः स्वयं न मारयतीति सत्यं, अस्वतन्त्रत्वात्, किन्तु केनचित् प्रेरितो मारयति, इतोपि मुख्यः सिद्धान्तो भगवानेव सर्वत्र प्रविष्टो मारयतीति शास्त्रं, तस्य ज्ञाने जीवानां षड्धर्मा बाधकाः भगवत्प्रतिपक्षाः, शोक ऐश्वर्यस्य, स हि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः तत्कृतेऽर्थे कथं शोकः ? अन्यथा, अपेक्षितं स्वांशानामन्यो न नाशयेत्, हर्षश्च प्राप्तौ भवति, तद् भगवतो वीर्ये कालरूपे ज्ञाते न भवेत्, भयं च न भवेत् यदि भगवतो यशो जानीयात्, स ह्ययुक्तं न करिष्यति, अन्यथा यशो न स्यात्, द्वेषश्च न भवेल् लोभश्च यदि भगवदीयांश्रियं जानीयात्, द्वेषश्च स्त्रीकृतो भवति लोभश्च धनकृतः, तदुभयं भगवत एवेति न स्वस्य तया कर्तुमुचितं, ज्ञाने मगवदीये ज्ञाते मोहाभावः प्रसिद्धः, मदस्तु वैराग्याभावात्, सर्वथैवाविरक्तो मत्तो भवति, अतोऽन्योन्यं मारयन्तमपि जना न पश्यन्ति, अन्यथैक एव घातकः स्यात् नन्वैकात्म्ये कथं वध्यघातकभावो भगवच्छास्त्रे उपपद्यते इति चेत् तत्राह भावैर्भावमिति, भवन्तीति भावा धर्माः, बाधकैर्धर्मैः बाध्या धर्मा एवापोह्यन्ते न तु धर्मी, ये हि भवन्ति ते नश्यन्तीति, यथैकस्मिन् वस्त्रे शुक्लादयो धर्मा रञ्चकद्रव्यसम्बन्धादुत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, परं बलीयस्त्वं नियामकं, यद्बाधार्थमेव यस्मिन् भावे भगवान् निविशति स तं भावं दूरीकरोतीति भवदादीनां करणत्वमेव न तु कर्तृत्वं, न हि करणं क्वचिदुपालभ्यते स्तूयते वा, अदर्शने हेतुः पृथग्दृशः इति, करणे संबद्धः एव कर्त्ता करणाच् चेत् पृथग् ज्ञायते करणं वा तत-

स्तदैवम्बुद्धिर्भवति न तु सर्वत्राविष्टं भगवन्तं ज्ञातवतः, अतो मत्पुत्रा अपि भगवतैव मारितास्त्वमपि मारणीय इति त्वयापि शोको न कर्त्तव्य इति भावः ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ = यहां यह बात तो वास्तविक है कि स्वयं देहधारी किसी को नहीं मारता क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं है। वह तो किसी दूसरे से प्रेरित होकर ही मारता है। इस से भी मुख्य सिद्धान्त यह है कि भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र प्रविष्ट हो कर मारता है यह शास्त्र सिद्ध है। इस प्रकार के सिद्धान्त-प्रतिपादक शास्त्र के ज्ञान में भगवान् के छः धर्मों के बाधक जीव में छः धर्म विद्यमान हैं। जैसे भगवान् में ऐश्वर्य है उसका बाधक (उस से विपरीत) शोकरूप धर्म जीव में है। भगवान् करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ हैं। ऐश्वर्य होने से आप जो कुछ करते हैं समझ कर ही करते हैं। यह ज्ञान जीव को नहीं है इस लिये शोक करता है। यहां यह भी अभिप्राय हो सकता है कि जीव को यह भी समझना चाहिये कि भगवान् करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ है इस लिये मनुष्य के बुरा करने पर भी वह भला कर सकता है। ऐसा समझने पर जीव को शोक नहीं हो सकता। भगवान् ही सब कुछ करते हैं ऐसा नहीं मानते हैं तो यह कैसे हो सकता है कि भगवान् के स्वांशभूत जीवों को अपेक्षित वस्तु को दूसरा कोई नाश करे। यदि कोई स्वतन्त्ररूप से ऐसा करना चाहे तो उसका इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं है और भगवान की इच्छा के विरुद्ध काम करने वाले को दण्ड भी मिल सकता है। भगवान ही नष्ट करते हैं ऐसे ऐश्वर्य के ज्ञान न होने से जीव को शोक होता है ॥ जीव में जो हर्ष है वह भगवान् के वीर्य के विरुद्ध है। हर्ष किसी अत्यन्त अपेक्षित वस्तु के प्राप्त होने पर होता है। यह हर्ष जीव को तब न हो जब वह भगवान् के वीर्यरूप काल को जान ले। वह यह नहीं जानता कि जिस वस्तु की प्राप्ति पर मुझे हर्ष हो रहा है वह वस्तु भगवान् अपने वीर्यरूप काल से नष्ट कर सकते हैं। ऐसा समझता रहे तो जीव को हर्ष नहीं हो।[1] यदि जीव भगवान के यश को जान ले तो उसे भय कभी नहीं हो क्योंकि ऐसी दशा में उसे यह ज्ञान रहेगा कि वह भगवान् यश वाला है इस लिये अयुक्त कभी नहीं करेगा क्योंकि अयुक्त करने पर उनका यश नष्ट होता है इस लिये वे ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिस से उन का यश नष्ट हो। अतः उसे भय नहीं करना चाहिये। जीव में द्वेष और लोभ तब नहीं हो जब जीव भगवान् की श्री को जानले। द्वेष स्त्रीकृत होता है और लोभ धन से होता है। यदि जीव यह समझले कि सभी स्त्रियें श्री लक्ष्मी का अंश है तो भगवान् से उत्तम स्त्री प्राप्त हो सकती है, मुझे उस के लिये किसी से द्वेष नही करना चाहिये। भगवान् में लक्ष्मी के होने से धन भी उनकी कृपा से स्वतः प्राप्त हो जायगा तो फिर मुझे लोभ क्यों करना

[1] भगवान् में वीर्य है, वे सभी विपत्तियों को मिटा सकते हैं, यदि ऐसा समझलें तो किसी से भय नहीं हो परन्तु जीव में भगवान् के वीर्य के विरुद्ध भय है इसलिये समझा जाता है कि वह भगवान् के वीर्य को नहीं जानता। (इस प्रकार) श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने भय को वीर्य के विरुद्ध बताया है और द्वेष को यश के विरुद्ध कहा है ॥

चाहिये। (अथवा यहां यह भी भाव हो सकता है कि सब कुछ वस्तु भगवान् की हो हं, मुझे इस के लिये किसो से द्वेष एवं लोभ नहीं करना चाहिये) भगवान् के ज्ञान को समझले तो जीव को कभी मोह नहीं हो। जीव में वैराग्य के विरुद्ध मद है। मद तो वही करता है जिस में वैराग्य लेश भी नहीं होता। इस प्रकार भगवान् के धर्मों के विरुद्ध जीव में ये धर्म हैं। अतः वह हर्ष शोक आदि करता है और उनके रहते हुए उसे भगवान् का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः भगवान् ही परस्पर में नष्ट कराते हैं यह बात मनुष्य नहीं विचारते हैं। यदि जीव यह जान जाय कि मरने वाला मारने वाला वही है तो एक ही मरने वाला और मारने वाला होने से किसी से वह द्वेष आदि नहीं करें। यदि कहें कि मारने वाला मरने वाला एक ही है तो यह मारता है यह मरता हं इस प्रकार का व्यवहार भगवच्छास्त्र में कैसे उपपन्न होगा तो कहते हैं कि धर्मों से धर्मों का ही नाश होता है, धर्मी का नाश नहीं क्योंकि यह नियम ह कि जो पैदा होते हैं वे ही नष्ट होते हैं। श्लोक मे भाव शब्द का यही अभिप्राय है कि जो पैदा होते है वे भाव कहलाते हैं और वे हैं धर्म। जसे एक वस्त्र में श्वेत आदि धर्म रगने वाले द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। नष्ट वह करता है जो बलवान् हाता हं। भगवान् जब अमुक धर्म को दबाने के लिये अमुक धर्म में प्रविष्ट होते हैं तो जिस धर्म में वे प्रविष्ट होते हैं वह धर्म बलिष्ठ होने से अन्य धर्म को तिरोहित कर देता हं। इस लिये वसुदेवजो कहते हैं कि हे कंस! तूं तो मेरे बच्चों को मारने में घटनिर्माण में दण्ड की तरह करण ही है कर्ता नहीं है। क्रिया करने में जो करण होता है उसे कोई उपालंभ नहीं देता और न उस की काई स्तुति करता है। यदि वह कर्ता होता तो उपालंभ एवं स्तुति के योग्य होता परन्तु यह सब कुछ ज्ञान इस लिये नहीं होता कि वह यह समझता है: कि इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध रखने वाला जोव हो कर्ता होता है, भगवान् तो इन्द्रिय सम्बन्ध वाला नहीं है इस लिये भगवान् कर्ता नहीं है जीव ही कर्ता है यह बुद्धि होती ह। इन्द्रिय वाला कर्त्ता करण के पृथक है और करण कर्ता से भिन्न हैं ऐसा समझने वाला इस प्रकार की बुद्धि करता है। जो भगवन् को सर्वत्र अविष्ट मानता हैं उसकी बुद्धि दूसरा मारता है ऐसी नहीं होकर यही बुद्धि होती है कि भगवान् ही सब कुछ करते हैं तो ऐसी दशा में वह किसी को दोष नही देता। वसुदेवजो कहते हैं कि मैं तो यह समझता हूं कि भगवान् ने ही मेरे पुत्रों को मारा हैं और तुझे भी वेही मारेंगे अतः तुझे भी अपने मरने का शोक नही करना चाहिये।। २७ ।।

श्री सुबोधिनी = एवं मायाकृतं ज्ञापनं सकार्यं निरुप्योपसंहरति ।

अर्थ — इस प्रकार माया ने जो कहा था कि तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया तूं इस दीन देवकी को व्यर्थ न मार, इस कथन का कार्य देवकी वसुदेवजी को छुड़ाना था। उस का निरूपण कर अब इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं।

॥ श्री शुक उवाच ॥

श्लोकः-- कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः ।
देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोविशद् गृहम् ॥२८॥

अर्थ — श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे परीक्षित् ! इस प्रकार अपने सिद्धांत के कहने से प्रसन्न दिखाई देने वाले वसुदेवजी ने जब विशुद्ध भाव से कंस को कहा तो कंस उन की अनुमति लेकर अपने महल में चला गया ।

श्रीसुबोधिनी = कंस इति, एवं प्रसन्नाभ्यां स्वसिद्धान्तकथनेन सम्यक् प्रसादो लक्षितः, विशुद्धं परिभाषित इति, राजन्निति सम्बोधनेन तदुक्तानुवादेन च निरूपितौ, एकस्यैव वचनं निरूपितमिति देवक्या अप्रसादशङ्का वारयितुमुभयोर्ग्रहणं, अतस्ताभ्यामनुज्ञातः प्रतीकारमकृत्वा गृहमेवाविशत् ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ = इस प्रकार प्रसन्न हुए देवकी - वसुदेवजी ने अपना सिद्धान्त कहा तो कंस ने यही समझा कि मुझे ये कर्त्ता न मानकर करण ही मान रहे हैं इसलिये मेरे पर प्रसन्न ही हैं । यह बात "एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः" से कही है । पूर्व के २६ वें श्लोक में हे महाराज ऐसा कहने से और कंस की बात का अनुवाद कर उसका समर्थन करने से कंस ने यही समझा कि देवकी वसुदेवजी प्रसन्न हैं परन्तु ये वचन वसुदेवजी ने ही कहे हैं, शायद देवकी अप्रसन्न होगी इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में "देवकी वसुदेवाभ्यां" ऐसा कहा । देवकी वसुदेवजी की आज्ञा लेकर उस समय उत्पन्न हुए बच्चे के मारने के लिये कुछ भी प्रतीकार न कर वह कंस अपने महल में चला गया ॥ २८ ॥

श्री सुबोधिनी = एवं मायाकार्यं भगवत्प्रेरणया कृतं निरूप्य स्वतन्त्रतया तत्कृतं निरूपयितुमाह तस्यामिति यावदध्यायपरिसमाप्ति ।

अर्थ = इस प्रकार भगवान् की प्रेरणा से वसुदेवजी एवं देवकी को छुड़ाना रूप जो माया का कार्य है उसका निरूपण कर माया ने स्वतन्त्रतया जो कुछ किया उसका निरूपण करने के लिये "तस्यां रात्र्यां" से इस अध्याय की समाप्ति तक कहते हैं ।

श्लोकः- तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः ।
तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया ॥ २९ ॥

अर्थ = उस रात्रि के बीत जाने पर कंस ने मन्त्रियों को बुलाया और जो योगमाया ने कहा था वह सब वृत्तान्त कंस ने उनको सुनाया ॥ २९ ॥

श्री सुबोधिनी = यदीदं न कुर्यादवध्य एव स्यात्, तच्च देवानामनिष्टमिति देवतामाया तत्कार्यं कृतवती, असुराणां वा भगवद्रूपा तेषां मुक्त्यर्थं तान् स्वधर्मनिष्ठान् कृत्वा सर्वशास्त्रविरोधिमोक्षं सम्पादयतीति तथाकथा, राजधर्मा हि अनुल्लङ्घनीया यथा पूर्वमविचारेण कृतं तदन्यथा जातमतः परं विचारेण कर्तव्यमिति विचार्य मन्त्रिण आहूय विचारार्थं पूर्ववृत्तान्तमुक्तवानित्याह तस्यामिति, ज्ञानस्य ज्ञातत्वात् कार्यस्य विलंबसहिष्णुत्वाच्च तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामित्युक्तं, मन्त्रिणोऽपि तामसस्य तामसा एवेति तन्नाम्ना ज्ञापितं, देवक्यादौ विनयो यः कृतः स तु नोक्तः, योगनिद्रया यदुक्तं तत्सर्वमाचष्ट यथा कंसो विवेकरहितस्तथा तन्मन्त्रिणोऽपि ॥ ईद ॥

व्याख्यार्थ = यदि माया स्वतन्त्रता से अर्थात् भगवान् की प्रेरणा के बिना आगे कहे गये कार्य को कंस से न कराती तो वह मरता ही नहीं। उसका न मरना देवताओं को इष्ट नहीं था, वे तो यही चाहते थे कि किसी भी रूप में यह कंस उग्र पाप में निरत हो जाय तो जल्दी मरे, इसलिये देवमाया ने ऐसा कार्य कराया अर्थात् उसे आगे कहे जाने वाले पाप में प्रवृत किया अथवा यों कहिये कि "मायेत्यसुराः" इस श्रुति के अनुसार दैत्यों का उपास्य भगवान् माया ही है। इसलिये उनके मायारूप भगवान् ने उन्हें मुक्ति देने के लिये राक्षसों का जो बच्चे आदि मारना स्वधर्म है उसमें लगाया अर्थात् ऐसा कार्य कराने में माया का यही आशय रहा कि यदि ये दैत्य क्रूर कार्य करेंगे तो भगवान् के हाथ से मरने से मुक्त हो जायँगे। जो स्वधर्म का पालन करता है वह मुक्त हो जाता है इसलिये माया-रूप भगवान् ने उनसे स्वधर्म जो क्रूर कर्म है उन्हें कराया और सब शास्त्रों के विरोधी मोक्ष को दिलाया इसलिये ऐसा कहा है। शङ्का करते हैं कि दैत्य बहुत से थे, वे एकमत होकर स्वधर्म में निरत कैसे हुए तो कहते हैं कि राजा जिन धर्मों को अपनाता है वे सब के लिये पालनीय हो जाते हैं। अतः वे सब ऐसे क्रूर कर्म में प्रवृत्त हुए। क्योंकि जैसा कंस है वैसे उसके मंत्री भी दुरात्मा हैं। कंस ने विचार किया कि मैं ने पहले बिना विचारे बच्चों को मारा यह ठीक नहीं किया अब आगे विचार कर ही काम करना चाहिये। इस विचार से उसने मन्त्रियों को बुलाया और उनसे विचार लेने के लिये पहले जो कुछ भी हुआ कहा। कंस ने देवकी वसुदेवजी से अलग होते ही उसी क्षण में प्रतिकार का विचार क्यों नहीं किया तो कहते हैं कि उसे योगमाया से यह ज्ञात हो गया कि मेरा मारने वाला पैदा हो गया और उसके समर्थ होने में अभी विलंब है इसलिये उसने एक रात्रि को बीतने दी, कंस के मन्त्री भी तामस थे क्योंकि तामस राजा के तामस मंत्री होते हैं। यह बात श्लोक में दिये गये कंस पद से बताई गई। कंस ने उनके सामने यह नहीं कहा कि मैं ने देवकी वसुदेवजी से विनय किया था, उसने तो वही बात कही जो योगमाया ने कही थी। कंस जैसे विवेक रहित था वैसे ही उसके मन्त्री भी विवेक रहित थे ॥ २९ ॥

श्री सुबोधिनी = तेषां दौरात्म्यमाह।

अर्थ = अब मन्त्रियों की दुष्टता को कहते हैं।

श्लोकः- आकर्ण्य भर्तृगदितं तमूचुर्दैवशत्रवः ।
देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः॥३०॥

अर्थ = अपने स्वामी के वचनों को सुनकर देवताओं के शत्रु तथा देवताओं पर क्रोध करने वाले वे दैत्य जो पूर्णतया नीति में कुशल नहीं थे कंस से बोले ॥ ३० ॥

श्री सुबोधिनी = आकर्ण्येति, भर्तुः कंसस्य गदितमाकर्ण्य श्रुत्वा विचार्य च तं प्रत्यूचुः एतेषां कंसरक्षायां न कापि बुद्धिः किन्तु देवद्वेष करणेऽवसरो जात इति हृष्ट्रा इत्याह देवशत्रव इति ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ = अपने स्वामी कंस से कही गई बात को सुन कर और विचार कर कंस से मन्त्री बोले। दैत्यों की यह बुद्धि नहीं थी कि कंस की रक्षा हो किन्तु देवताओं से द्वेष करने का मौका मिल गया इससे वे प्रसन्न हुए यही बात "देवशत्रवः" से श्लोक में कही है ॥ ३० ॥

श्रीसुबोधिनी = प्रथमतः स्वबुद्धया निश्चितं प्रतीकारमाहु : ।

अर्थ = पहले वे दैत्य अपनी बुद्धि से निश्चित किये गये प्रतीकर को कहते हैं ।

! दैत्या ऊचु : ।

श्लोक - एवञ्चेत् तर्हि राजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु ।
अनिर्दशान्निर्दशाँश्च हनिष्यामोद्य वै शिशून् ॥ ३१ ॥

अर्थ = दैत्यों ने कहा कि हे राजाओं के स्वामी कंस। आज ही हम शहरों में, छोटे गांवों में, व्रज आदि में हुए बालकों को जो दश दिन के भीतर के हैं अथवा जो दश दिन के ऊपर के हैं मारेंगे ॥ ३१ ॥

श्रीसुबोधिनी = एवञ्चेदिति, यदि क्वचिद् बालक एव जात : स तु मासमध्ये जातो भविष्यतीत्यनिश्चये ऽपि सर्वानेव बालकान् मारयिष्याम :, ते बालका : पुरस्था ग्रामस्था व्रजस्था वा भवन्तु, तरतमभावनिरूपणार्थं त्रयाणां ग्रहणं, अस्माकं तु न विलम्ब :, तदाह्योति, राजेन्द्रेति संबोधनमाज्ञापनार्थं, न निर्गतानि दशाहानि येषां ते निर्दशा अतिबालका निर्दशास्त्वतिक्रान्तदशाहा :, उभयानपि विशेषाकारेण सर्व एव वयं हनिष्याम :, अत्र सन्देहो नास्तीति वैशब्द :, दैत्यगृहेष्वपि स्वसम्बन्धिष्वपि जाता हन्तव्या इति, राज्ञा चेद् भगिनीपुत्रा मारिता अन्यैरपि स्वकीया अपि मारणीया इति तैर्ज्ञातं, अन्यथा प्रभुर्न वदेदिति ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ = कंस के मन्त्री कहते हैं कि यदि ऐसा ही है तो आप के मारनेवाला कहीं पैदा हुआ होगा तो एक मास के भीतर ही पैदा हुआ होगा ऐसा निश्चय न होने पर भी हम सभी बालकों को मारेंगे। ये बालक पुर के हों ग्राम के हों अथवा व्रज के हों, हम मारे विना नहीं छोड़ेंगे। शहर में बालक ज्यादा मिलते हैं उससे न्यून ग्राम में और उससे कम व्रज में। इसीलिये श्लोक में क्रम से पुर ग्राम एवं व्रज का निर्देश किया है। श्लोक में आये "अद्य" पद का स्वारस्य यह है कि हमें इसमें कोई विलंब नहीं होगा। राजेन्द्र इस सम्बोधन का यह आशय है कि तुम राजाओं में प्रधान हो इसलिये हमें आज्ञा दे सकते हो। हम उन सब बच्चों को जो दश दिन के भीतर के हैं अथवा दश दिन से ज्यादा उम्र के हैं उन सबको विशेषरूप से मारेंगे। श्लोक में आया "हि" शब्द निश्चयार्थक है अर्थात् यह आप निश्चयरूप से समझें, इसमें सन्देह की कोई बात नहीं है। हम उन बालकों को भी मारेंगे जो हमारे सम्बन्धी दैत्यों के घर में पैदा हुए हैं। दैत्यों ने यह समझा कि राजा कंस ने जब बहिन के पुत्र भी मार दिये तो दूसरों को भी अपने सम्बन्धियों के पुत्र भी मारने चाहिये। यदि कंस अपनी बहिन के पुत्रों को नहीं मारता तो वह यह समझता कि जब मैं बहिन के पुत्रों को नहीं मारता हूं तो ये दैत्य भी मेरी बात को नहीं मानेंगे। जब उसने स्वयं ऐसा किया तो यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार प्रजा होने से दैत्यों को भी यह गर्हित कार्य करना उचित हो गया। स्वयं कंस ने ऐसा कार्य किया है इसलिये आज्ञा देने में वह निः शङ्क था अन्यथा आज्ञा ही नहीं देता ॥ ३१ ॥

श्री सुबोधिनी = एवं स्वकृत्यमुक्त्वा तस्य भयाभावार्थं तं प्रोत्साहयन्ति किमुद्यमैरितिषड्भिः, यथा भगवतः षड्गुणास्तथा तव षड्गुणाः

श्लोकः– सामर्थ्यं च जयश्चैव दीनत्वं च दया यथा।
शत्रुणामल्पता चैव राजनीतिस्तथैव च ॥ १ ॥

यदि बालका हन्यन्तेऽन्यमुपायं करिष्यन्ति देवा इत्याशङ्क्याहुः—

अर्थ = इस प्रकार दैत्य अपना कर्त्तव्य कह कर कंस को भय न हो इस के लिये "किमुद्यमैः" आदि छः श्लोकों से उसे प्रोत्साहित करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे भगवान् में छः गुण हैं वैसे ही आप में भी छः गुण हैं। यहाँ "किमुद्यमैः करिष्यन्ति" इस श्लोक से कंस के सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया है अथवा यह भी कह सकते हैं कि इस श्लोक से देवताओं में कितना सामर्थ्य है इसका निरूपण है। "अस्यतस्ते शरव्रातैः" में कंस के जय का निरुपण है। और "केचित्प्रांजलयो भीताः" से देवताओं की दीनता कहीं गई है, "न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान्" से कंस की दया बताई; "किं क्षेमशूरैः" से देवताओं को तुच्छ बताया और

"किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण" से राजनिति का वर्णन किया गया। इस प्रकार "किमुद्यमैः" से लेकर छः श्लोकों से क्रमशः सामर्थ्य, जय, दीनता, दया, शत्रुओं की अकिञ्चत् करता तथा राजनीति का वर्णन किया गया है। दैत्य कहते हैं कि यदि आप यह कहें कि तुम यदि बालकों को मारोगे तो देवता अन्य उपाय कर लेंगे तो कहते हैं कि:—

श्लोकः- किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याधोषैर्धनुषस्तव॥ ३२॥

अर्थ = देवताओं के उद्योगमात्र से क्या हो सकता है। युद्ध में डरने से वे क्रिया तो कर ही नहीं सकते। उन्हें भय होने में कारण यह है कि तुम्हारे धनुष के टङ्कार से वे उद्विग्न रहते हैं॥ ३२॥

श्री सुबोधिनी = किमुद्यमैरिति, उद्यममात्रं तेषां न तु क्रियासामर्थ्यं, यतः समरे भीरवः संग्रामं दृष्ट्वैव बिभ्यति, तथा भये तेषां निमित्तमाह नित्यमुद्विग्नमनस इति, अयं हि दिग्विजये सर्वानेव मारितवान्, इन्द्रोऽपि भीतः पलायितः, ब्रह्मादयोऽपि लीनाः, धृत्वा च देवान् यातनां प्रापयति, अतो यद्यन्यार्थमपि धनुष्टङ्कारं कुर्यात् तथापि देवा उद्विग्नमनसो भवन्तीति नित्यमुद्विग्नमनसः, तवेति सम्मत्यर्थं निरूपितम्॥ ३२॥

व्याख्यार्थ = देवता उद्योगमात्र करेंगे, उनमें क्रिया करने का सामर्थ्य नहीं है क्योंकि वे संग्राम को देखकर ही डरने वाले हैं। उनको ऐसे भय होने में कारण यह है कि नित्य ही उद्विग्न मनवाले रहते हैं। पहले कस ने दिग्विजय करने के समय सबको मार दिया था, इन्द्र भी डर कर भाग गया था, ब्रह्मा आदि देवता भी भय के कारण छिप गये थे, बाकी रहे सभी देवताओं को पकड़ कर आप यातना दे रहे हैं इस कारण से दूसरे के लिये भी जब आप धनुष का टङ्कार करते हैं तो देवता उद्विग्न मनवाले हो जाते हैं। श्लोक में आये "तव" पद का अभिप्राय यह है कि तुम्हें इस का अनुभव है इस लिये हमारा कहना ठीक है न? ॥ ३२॥

श्रीसुबोधिनी = धनुष्टङ्कारमात्रेणैवोद्वेगे पूर्ववृत्तान्तं हेतुत्वेनाह।

अर्थ = तुम्हारे धनुष के टङ्कार से ही देवताओं को उद्वेग हो जाता है इस में पूर्ववृत्तान्त को हेतु बताते हुए कहते हैं कि:—

श्लोकः— अस्यतस्ते शारव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः।
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः॥ ३३॥

अर्थ = जब आप बाणवर्षा करते हैं तब बाणों के समूह से चारों ओर से मारे जाते हुए जीवन की इच्छा रखने वाले वे देवता धर्म और युद्ध को छोड कर भगने लगते हैं ॥ ३३ ॥

श्रीसुबोधिनी = अस्यत इति, अस्यतः शरान् क्षिपतस्ते सतः सम्मुखमनागता अपि तैः क्षिप्तैरेव शरव्रातैः सर्वतो हन्यमानः सञ्च्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गा जिजीविषवो भूत्वा धर्मं संग्रामं चोत्सृज्य पलायनपराः सन्तो ययुः, देशस्याविवक्षितत्वाद् यत्र क्वापि, ये तु दूरस्थास्ते पलायिताः ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ = बाण चलाते हुए तुम्हारे सामने नहीं आये भी देवता उन चलाये हुए बाणों से जिन के सब अङ्ग छिन्न भिन्न हो गये हैं वे जीवन की इच्छा रख धर्म और संग्राम को छोडकर भगने लगते हैं। श्लोक में अमुक देश विवक्षित न होने से जहां कहीं भगने लगते हैं ऐसा ही हम कह सकते हैं अर्थात् अमुक देश में ही गये यह निश्चितरूप से हम नहीं कह सकते। और जो देवता आप से दूर थे वे भय के मारे ही भग गये ॥ ३३ ॥

श्रीसुबोधिनी = येऽपि निकटस्थास्तेऽपि जिजीविषवो भूत्वा पलायनासंभवादुपायान्तरं कृतवन्त इत्याहुः।

अर्थ = जो देवता पास ही थे वे भग नहीं सके, उन ने जीने की इच्छा से दूसरा उपाय किया, इस बात को कहते हैं—

श्लोकः— केचित् प्राञ्जलयो भीता न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः।
मुक्तकच्छ शिखाः केचिद् भीताः स्म इति वादिनः ॥ ३४ ॥

अर्थ = कुछ देवता जिन ने शस्त्र डाल दिये हैं, जो डरे हुए हैं और जिन की चोटी एवं कच्छ खुल गये हैं हाथ जोड कर आप के सामने खडे हैं और कुच्छ यह कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं हमारी रक्षा करो ॥ ३४ ॥

श्रीसुबोधिनी = केचिदिति, प्राञ्जलयः, स्तोतुमिव प्रवृत्तानां कायिक्यवस्था प्रदर्शिता, भीता इत्यन्तःकरणस्य, त्यागे न हन्यत इति शास्त्रार्थपरिपालनाय न्यस्तशस्त्राः, तर्हि तेषां कथं स्वधर्मत्यागे स्वर्गो भविष्यती त्याशङ्क्याहुर्मुक्तकच्छशिखा इति, मुक्ताः कच्छाः शिखाश्च येषाः परमापदा वैकल्यं तेषामुक्तं, आपदि स्वधर्मास्त्युक्तुं शक्यन्ते, येषां पुनर्दैवगत्या मुक्तकच्छशिखात्वं न जातं तेषां का गतिरिति चेत् तत्राह केचिद् भीताः स्म इति वादिन इति, शरीरे भीतकार्यस्यादर्शनान् मुखत एव भीता वयमित्याहुः ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ = कोई देवता नम्रता से हाथ जोड़ कर मानो स्तुति करने की तरह खड़े हैं। श्लोक में आये "प्राञ्जलयः" से उनके देह की अवस्था कही। भय अन्तःकरण में होता है इसलिये "भीताः" पद से अन्तःकरण की अवस्था कही। शस्त्र छोड़ देने पर शत्रु को नहीं मारना चाहिये इस शास्त्र की

आज्ञा से कंस हमें नहीं मारेगा इसलिये देवताओं ने शस्त्र अस्त्र छोड़ दिये। यहां शङ्का होती है कि यदि देवताओं ने शस्त्र अस्त्र छोड़ दिये तो वे स्वधर्म त्याग से स्वर्ग में कैसे रहेंगे तो कहते हैं कि "दिवौकसः" देवता इस समय ऐसे हैं कि स्वर्ग में उनका केवल स्थान है वे वहां के भोग नहीं कर पाते। शङ्का होती है कि देवताओं ने अपने धर्म का त्याग कर अयुक्त कार्य कैसे किया तो कहते हैं कि "मुक्तकच्छशिखाः" कच्छ एवं शिखा खुलने से वे परम आपत्ति से विकल हो गये। आपत्काल में अपने धर्म छोड़े जा सकते हैं अर्थात् आपत्ति के समय यदि अपने धर्म का त्याग हो जाता है तो कोई दोष नहीं है। उन में कुछ ऐसे हैं जिनकी दैवगति से कच्छ शिखाएँ नहीं खुली वे कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं। शरीर में डरे हुए का कार्य नहीं दीखने से मुख से ही वे कह रहे हैं कि हम डरे हुए हैं॥ ३४॥

श्री सुबोधिनी = ननु ये वध्यास्ते सर्वथैव वध्या इति वचनेऽपि किं स्यात् तत्राहु :—

अर्थ = यदि कहें कि जो मारने योग्य हैं वे किसी भी रूप में उपस्थित हों मारने योग्य ही होते हैं तो हम डरे हुए हैं ऐसा कहने पर भी क्या होगा तो कहते हैं कि:—

श्लोकः— न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसन्नतान्।
हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः॥ ३५॥

अर्थ = जो भय के मारे शस्त्र अस्त्र भूल गये हैं, रथ हीन हैं, भय से शरणागत हैं, अन्य कार्य में आसक्त होकर युद्ध से विमुख हैं अथवा जो अन्यासक्त हैं और युद्ध से विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर दर्शक के रूप में उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते॥ ३५॥

श्री सुबोधिनी = न त्वमिति, सङ्ग्रामधर्मस्त्वया न त्यज्यतेऽतो ये देवा विस्मृतशस्त्रास्त्रा भयात्, शस्त्राणि धृत्वा यैर्मार्यंते अस्त्राणि दूरात्, मन्त्रयुक्तानि वा, भयादुभयविधान्यपि विस्मृतानि, विगतो रथो येषां, सारथ्यादीनां वधात् "प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवि" दितिवाक्याद् विरथोप्यवध्यः, भयेन सम्यङ्नताः शरणागताः, प्रसंगादन्यानप्याहान्यासक्तविमुखान्, अन्यासक्ताश्च ते विमुखाश्चोभयविधा वा भग्नचापानयुध्यतः, निरीक्षकान् न हंसीति सम्बन्धः, एते षड्विधाः सप्तविधा वा न हन्तव्याः, अतस्त्वया स्वधर्मे परिपाल्यमाने पूर्वन्यायेन देवा जीविता इति भावः॥ ३५॥

व्याख्यार्थ = संग्राम के धर्म को आप नहीं छोडते अतः जो देवता भय से शस्त्र एवं अस्त्रों को भूल गये हैं उन्हें आप नहीं मारते। शस्त्र वे होते हैं जो हाथों से पकड़ कर चलाये जाते हैं और अस्त्र वे हैं जो दूर से चलाये जाते हैं। अथवा यों कहिये कि जो मन्त्र से चलाये जाते हैं वे अस्त्र हैं। जो

देवता इन दोनों को भय से भूल गये हैं उनको तथा जो सारथि घोडे आदि मरने से रथ रहित हो गये हैं उन्हें "प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्" वाक्य के अनुसार आप नहीं मारते । उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह है कि जो शत्रु शरणागत रथ रहित और डरा हुआ हो उसे धर्म जानने वाले नहीं मारते। इससे यह बताया कि रथ रहित शत्रु को भी नहीं मारना चाहिये। और जो भय से शरणागत हैं उन्हें भी नहीं मारना चाहिये। यहां प्रसंग से दूसरों को भी कहते हैं कि जो अन्यासक्त होकर युद्ध से विमुख हो गये हैं अथवा यहां यह भी कहा जा सकता है कि जो अन्यासक्त हैं और युद्ध से विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर दर्शक के रूप में उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते । ऊपर कहे गये छः प्रकार के अथवा अन्यासक्त एवं विमुख को भिन्न २ मानते हैं तो सात प्रकार के होते हैं इन्हें नहीं मारना चाहिये। अतः "प्रपन्नं विरथं भीतं इस न्याय के अनुसार स्वधर्म के पालन से देवता जीवित रहे हैं ॥ ३५ ॥

श्री सुबोधिनी = एवं साधारणानामप्रयोजकत्वमुक्त्वा महतामप्याह ।

अर्थ = इस प्रकार साधारण देवता आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते ऐसा कह कर महान् भी आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकते यह कहते हैं ।

श्लोकः— किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः ।
रहोजुषा किं हरिणा शंभुना वा वनौकसा ॥ ३६ ॥

अर्थ = देवता वहीं वीर बनते हैं जहां अपने अकल्याण की संभावना न हो । वे रण के बाहिर बड़ी २ डींग मारनेवाले हैं । उनसे तथा एकान्त में रहने वाले हरि भगवान् से वनवासी शंकर से अपना क्या बिगाड़ हो सकता है ॥ ३६ ॥

श्री सुबोधिनी = किं क्षेमशूरैरिति, येपि वाय्वग्निवरुणादयः शूराः प्रसिद्धास्तेपि क्षेमशूरा एव, क्षेमे सति गृहे भार्यायां वा शूरा यत्राक्षेमशङ्कैव नास्ति, न हि भार्या पतिं मारयिष्यतीति संभावना, यत्र पुनः संभावना मारयिष्यतीति तत्र पलायनमेव, एतदर्थपरिज्ञानादेव विबुधाः एतच्छारीरशौर्यं तेषां निरूप्य वाचनिकं शौर्यं निरूपयन्त्यसंयुगविकत्थनैरिति, विकत्थनं स्वशौर्याविष्करणवाक्यं, तदपि न संयुगे, केनापि सह यदा न युद्धसंयोगस्तदैव विकत्थनं, एवं देवान् दूषयित्वा मुख्यांश्चतुर आहुः, अस्ति हरिः शूरः, परं कस्यापि स सम्मुखो न भवति, यस्त्वेकान्ते तदेकपरस्तिष्ठति हरिरपि तस्य संमुखो भवतीति स्तुतिपक्षे यथाश्रुतमेव, पक्षान्तरे स्त्री तुल्यता निरूपिता, हरिणेति, सर्वदुःखनिवारकत्वं निरूपितं, यतो दुःखितेष्वेव शौर्यादिरहितेषु तस्याविर्भावो निरूपितः अस्ति च त्रिपुरान्तकः शूरः, सोपि सर्वदा वनवासी तपस्वी, न हि वनस्थस्तपस्वो कस्यचिद् द्विष्टो भवति, असमत्वात् ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ = जो भी वायु, अग्नि, वरुण आदि प्रसिद्ध शूर हैं वे जब तक कल्याण रहे तभी तक शूर हैं, अथवा यों कहिये कि घर में एवं भार्या के सम्मुख ही शूर बनते हैं, जहां उन्हें अकल्याण की आशंका नहीं है जैसे स्त्री अपने पति को नहीं मार सकती यह संभावना है। जहां यह संभावना हो कि मारेगा ही तो वे वहां से भाग ही जाते हैं। इस अर्थ का उन्हें परिज्ञान हैं इस लिये वे विबुध हैं, अर्थात् कहां विपत्ति आ सकती है और कहां नहीं इस बात को देवता समझते हैं इस लिये विबुध हैं अर्थात् विशेष रूप से समझने वाले हैं। इस प्रकार देवताओं के शरीर का शौर्य कह कर अब उनकी वाणी के शौर्य को कहते हैं कि "असंयुगविकत्थनैः" अपने पराक्रम से प्रकट करने वाले वाक्यों को कहना विकत्थन कहलाता है, यह डींग भी युद्ध के बाहिर ही मारते हैं अर्थात् जब किसी के साथ युद्ध न होता हो तब हम ऐसे हैं हम ऐसे हैं ऐसी डींग मारते हैं। इस प्रकार देवताओं को दूषण लगा कर मुख्य चार देवताओं के विषय में कहते हैं कि हरि शूर अवश्य है परन्तु वह किसी के सामने आता ही नहीं, वह तो उसी के सम्मुख प्रकट होता है जो एकान्त में उसी की भक्ति करता है। स्तुतिपक्ष में जैसा पद है वैसा ही अर्थ करना जिस से भगवान् की स्तुति हो जाय। निन्दा पक्ष में यह भाव होगा कि स्त्री जैसे किसी के सम्मुख नहीं आती और अपने में अनुरक्ति रखने वाले को ही एकान्त में मिलती है वैसे ही हरि भी किसी अननुरक्त व्यक्ति के सम्मुख नहीं आता। इस से दैत्यों ने भगवान् को स्त्री तुल्य बताया। और एक बात यह भी है कि सब दुःखों को दूर करने वाला है इस लिये हरि है। यहां दैत्यों का भाव यह है कि जो शौर्य आदि से रहित है और दुःखित हैं उनके सामने ही प्रकट होता है। महादेव यद्यपि शूर है परन्तु वह सदा वन में रहने वाला तपस्वी है। वन में रहने वाला तपस्वी किसी का शत्रु नहीं होता क्योंकि वह किसी के समान नहीं होता, जहां समानता होती है वहां ही द्वेष होता है ॥३६॥

श्लोकः— किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता।
तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे ॥३७॥

अर्थ = यद्यपि अल्पवीर्य वाले इन्द्र से तथा तप करने वाले ब्रह्मा से कुछ भी नहीं बिगड़ सकता तथापि शत्रुता होने से देवता उपेक्षणीय नहीं हैं ऐसा हम मानते हैं ॥३७॥

श्रीसुबोधिनी = देवेन्द्रस्तु यद्यपि वृत्रहा तथाप्यल्पवीर्यः, अन्यथा वज्रादिप्रार्थनां कथं कुर्यात्? ब्रह्मा यद्यपि महान् भवति तथापि ब्राह्मण एव तपस्वी, एवं यद्यपि सर्वे देवा अप्रयोजकास्तथापि राजनीतिविचारेण ते नोपेक्ष्या इत्याहुस्तथापीति, देवानां दैत्यानां च सापत्न्यमस्ति कश्यपदायादाः सर्वे भिन्नमातृजास्ते शत्रव एव परस्परं भवन्ति, अतः सहजद्वेषित्वात् यदैव ते पुष्टा भविष्यन्ति तदैव मारयिष्यन्तीति नोपेक्ष्याः क्षीणदशायामेव मारणीयाः, अयमर्थो भवति न वेति विचारका जानन्ति वयं त्वेवं मन्महे ॥३७॥

व्याख्यार्थ = देवताओं का इन्द्र यद्यपि वृत्रासुर को मारने वाला है तथापि अल्प पराक्रमी है। यदि अधिक पराक्रमी होता तो वज्र आदि लेने के लिये वह प्रार्थना क्यों करता । ब्रह्मा यद्यपि महान् हैं तथापि ब्राह्मण ही है और तपस्वी है। ब्राह्मण एवं तपस्वी का कोई शत्रु नहीं होता। दैत्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो सभी देवता कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते तो भी राजनीति के विचार से वे उपेक्षा के योग्य नहीं हैं क्योंकि देवताओं के और दैत्यों के परस्पर सापत्न्य है । यद्यपि देवता और दैत्य सब ही कश्यपजी का हिस्सा लेने वाले हैं अर्थात् उनकी सन्तान है परन्तु भिन्न २ माता से पैदा हुए हैं इसलिये वे परस्पर में सहज शत्रु हैं। जब ही वे देवता पुष्ट हो जायंगे तब ही हमें मारेंगे इसलिये देवता उपेक्षणीय नहीं हैं, उन्हें क्षीणदशा में ही मारना चाहिये। यह बात हो सकती है या नहीं यह विचारक जानें, हम तो ऐसा मानते हैं ॥ ३७ ॥

श्री सुबोधिनी = एवं माहात्म्यं नीतिं चोक्त्वा किं कर्त्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः—

अर्थ = इस प्रकार कंस के माहात्म्य को और नीति को कहकर अब क्या करना चाहिये इस पर दैत्य कहते हैं कि:—

श्लोकः- ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान् ॥ ३८ ॥

अर्थ = इसलिये उन के मूल को उखाडने के लिये हमें आज्ञा दीजिये क्योंकि हम सर्वथा आपका अनुसरण करने वाले हैं ॥ ३८ ॥

श्रीसुबोधिनी = तत इति, यदेव देवानां मूलं भविष्यति तस्यैव खनने नियुङ्क्ष्वाज्ञापय, अनुव्रतानिति, योगेन रूढ्या च सर्वथा भवन्तमनुसृता वयं, मूलमग्रे वक्तव्यं खननं च मध्ये ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ = जो भी देवताओं का मूल हो उसे ही उखाड़ फेंकने के लिये आज्ञा दीजिये, हम आपके अनुव्रत हैं अर्थात् आपका अनुसरण करने वाले हैं। यहां "अनुव्रत" शब्द को यौगिक मान लेते हैं तो "अनु पश्चात् गमनस्य व्रतं नियमो येषां" ऐसा अर्थ होता है अर्थात् आप के पीछे चलने का है नियम जिनका ऐसे हम को आज्ञा दीजिये। यदि अनुव्रत शब्द को रुढ मानते हैं तो सेवक अर्थ होता है। इस अर्थ के मानने पर भी यही तात्पर्य होगा कि हम आप का अनुसरण करने वाले सेवक हैं। मूल कौन है इसे आगे बतायंगे और खनन को पहले कह रहे हैं ॥ ३८ ॥

श्री सुबोधिनी = उपेक्षायां को दोष इति चेत्तत्राहुः ।

अर्थ — यदि देवताओं की उपेक्षा करें तो क्या दोष होगा तो कहते हैं कि।

श्लोकः- यथामयोंगे समुपेक्षितो नृभिर्न शक्यते रुढपदश्चिकित्सितुम् ।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते ॥३६॥

अर्थ — जैसे शरीर में होने वाले ज्वर आदि रोग की उपेक्षा की जाय तो वह अपनी जड़ जमा लेता है और फिर असाध्य हो जाता है, जैसे इन्द्रयों की उपेक्षा करने वाले योगी का उनके द्वारा सर्वनाश हो जाता है वैसे ही शत्रु की उपेक्षा की जाय तो उसके प्रबल होने पर उसका दबाना कठिन हो जाता है और उस से अपना सर्वनाश हो जाता है ॥ ३६ ॥

श्री सुबोधिनी = यथेति, आमयो रोगो ज्वरादिरङ्ग आविर्भूतस्तमनादृत्य यदि स्नानभोजनादिकं कुर्यात् तदा रुढपदः संश्चिकित्सितुं न शक्यते, अङ्गमेव नाशयति, सद्वैद्येनापि तज्जनिते सन्निपाते चिकित्साऽशक्या, अनेन सम्बन्धे विद्यमाने कथं मारणीया इति शङ्का निवारिता तेषां सर्वनाशकत्वादिति लौकिकबाधकत्वेन निरूपितं, वैदिक-बाधकत्वेन दृष्टान्तान्तरमाह यथेन्द्रियग्राम उपेक्षित इति, योगिना परमपुरुषार्थे साध्य इन्द्रियसमूहो नोपेक्षणीयः, तेषामुपेक्षाया "मिन्द्रियैर्विषयाकृष्टै" रितिन्यायेन सर्वनाशो भवति, प्रबलं चेदिन्द्रियं पश्चान्निवा यितुमशक्यं यथैहिकामुष्मिकनाश एताभ्यां तथा सर्वनाशो देवैर्दैत्यानां, तदाह रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यत इति, महान् स्वापेक्षयापि स्वरूपतः, ते चेत् सम्बद्धबला भवन्ति तदा चालयितुमप्यशक्या अतो नोपेक्षणीयाः ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ = ज्वर आदि रोग शरीर में उत्पन्न हो जाय और उसकी परवाह न कर स्नान भोजन आदि करता रहे तो उस रोग के दृढमूल हो जाने पर उस की चिकित्सा नहीं हो सकती और वह अपने शरीर को ही नष्ट कर देता है। यदि ज्वर से सन्निपात हो गया तो अच्छे वैद्य से भी उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती। इससे यह शङ्का निवृत हुई कि सम्बन्ध रहते कैसे मारें। जैसे शरीर से पैदा होने से रोग अपना सम्बन्धी है परन्तु उपेक्षा होने पर वह अपना शर्वनाश करने वाला है इस लिये उसके मिटाने का उपाय करना ही चाहिये वैसे ही यदि कोई अपना सम्बन्धी है और अपना सर्वनाश करने वाला है तो उसे भी नष्ट करना ही चाहिये। यह बात लौकिक बाधक रूप में कही। अब वैदिक बाधा बताते हुए दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि जैसे योगी को परम पुरुषार्थ साधन करना हो तो अपने इन्द्रिय समूह की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यदि उनकी उपेक्षा की जाती है तो "इन्द्रियै-र्विषयाकृष्टैराक्षिप्त" के अनुसार उसका सर्वनाश हो जाता है। यदि इन्द्रियें प्रबल हो गई तो फिर वे विषयों से हटाई नहीं जा सकती। और रोग बढ़ने पर शरीर को नष्ट करेगा इसलिये वह व्यक्ति ऐहिक फल से वञ्चित रहेगा। जैसे योगी की इन्द्रियों के प्रबल होने पर उसे परलोक का सत्फल नहीं मिलता और रोग की उपेक्षा से जैसे ऐहिकफल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार देवताओं की उपेक्षा करने पर देवताओं द्वारा दैत्यों का सर्वनाश हो जायेगा। इसी बात को कहने के लिये "रिपुर्महान् बद्धबलो न

चाल्यते" से कहा है। जो स्वरूप से पहिले ही अपने से महान् हैं फिर यदि वे बलवान् बन जाते हैं तो उन्हें विचलित भी नहीं किया जा सकता। इसलिये देवताओं की उपेक्षा करना उचित नहीं है ॥ ३६ ॥

श्री सुबोधिनी = मूलमाह :

अर्थ = अब दैत्य देवताओं के मूल को बताते हैं।

श्लोकः— मूलं विष्णुर्हि देवानां यत्र धर्मः सनातनः।
तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपोयज्ञाः सदक्षिणाः ॥४०॥

व्याख्यार्थ = देवताओं का मूल विष्णु है जिसमें यज्ञादिरूप सनातन धर्म रहता है, उस विष्णु के तथा देवताओं के मूल—वेद, गायें, ब्राह्मण, तप तथा दक्षिणा सहित यज्ञ हैं ॥ ४० ॥

श्री सुबोधिनी = मूलं विष्णुरिति, देवानां मूलं विष्णुः, विष्णुप्रभवा देवाः, सत्त्वगुणा देवाः, तस्याधिष्ठाता तु विष्णुः, इमां युक्ति हिशब्द आह, प्रकारान्तरेणापि देवानां मूलं विश्णुरित्याह यत्र धर्मः सनातन इति, धर्मो यागादिः, स तु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकः, स केवलं वेदोक्तःसनातनः, "तानि धर्माणि प्रथमान्यास" न्निति श्रुतेः, यज्ञाभावे देवानां भक्ष्याभावाद् यज्ञो देवानां मूलं, स च स्वदेवतानियम्यः, तस्य च देवता विष्णुः, "यज्ञो वै विष्णु" रिति श्रुतेः, न केवलं तस्य नियामकत्वं किन्त्वाधारत्वमपि, तदाह यत्रेति, यत्र विष्णौ सनातनो धर्मः, "धर्मस्य प्रभुरच्युत" इति वाक्यात्, तस्माल्लौकिकवैदिकदेवानां मूलं विष्णुः, तस्यापि मूलमाह तस्येति, चकाराद्देवानामपि, ब्रह्म वेदः, गावो विप्राश्च तपो यज्ञाः सदक्षिणाः, प्रमाणं वेदः, हविरेकत्र मन्त्राश्चैकत्र, द्विविधो हि धर्मः, प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकः, प्रवृत्त्यात्मको यज्ञो निवृत्त्यात्मकस्तपः, सदक्षिणाः दक्षिणा यज्ञस्य भार्या, अनेन प्रवृत्तिधर्मत्वं तस्योक्तं, पञ्चात्मको वा मूलत्वेन निरूपितः, अनेन द्वयं मूलत्वेनोक्तं ब्राह्मणा गावश्च, तत्र दुहन्त्यो गावो, यज्ञकर्तारस्तपस्विनो वेदविदो ब्राह्मणाः ॥४०॥

व्याख्यार्थ = देवताओं का मूल विष्णु है। सब देवता विष्णु से पैदा हुए हैं। देवता सत्त्व-गुणवाले हैं और यज्ञ के अधिष्ठाता विष्णु है। देवताओं का मूल विष्णु है, इसमें बताई गई युक्ति को श्लोक में आया "हि" शब्द कहता है। देवताओं का मूल विष्णु है। इस बात को प्रकारान्तर से भी कहते हैं कि "यत्र धमः सनातनः"। याग आदि जो धर्म हैं वह देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य अर्पण करना रूप है और वेद में कहा गया धर्म ही सनातन (सदा से रहने वाला) है जैसा कि श्रुति में कहा है "तानि धर्माणि प्रधमान्यासन्" यागादि धर्म आरंभ से ही थे अथवा यों कहिये कि वे धर्म सब से प्रथम थे। यदि यज्ञ नहीं होते हैं तो देवताओं को भक्ष्य नहीं मिलता इसलिये यज्ञ देवताओं का मूल है और वह यज्ञ अपने देवता से नियम्य है। यज्ञ का देवता विष्णु है जैसा कि "यज्ञो वै विष्णुः" से कहा गया है। यज्ञ विष्णुरूप हैं इसलिये यज्ञ का नियामक विष्णु है। वह विष्णु यज्ञ का नियामक ही नहीं है किन्तु यज्ञ का आधार भी है इसलिये "यत्र धर्मः सनातनः" में यत्र पद दिया है अर्थात् जिस विष्णु में

सदा से रहने वाले याग आदि धर्म है। यहां "यत्र" इस अधिकरण निर्देश से धर्म का आधार भगवान् है यह कहा, इसलिये "धर्मस्य प्रभुरच्युतः" ऐसा कहा है अर्थात् धर्म का स्वामी विष्णु है, इससे सिद्ध हुआ कि लौकिक वैदिक देवताओं का मूल विष्णु है और उस विष्णु का तथा देवताओं के मूल-वेद, गायें, ब्राह्मण, तप और दक्षिणा सहित यज्ञ हैं। यज्ञ में वेद प्रमाण माना जाता है। गायों में हवि (घृत) रहता है और ब्राह्मण में मन्त्र रहते हैं। धर्म दो प्रकार का है, एक प्रवृत्ति रूप और दूसरा निवृत्तिरूप। प्रवृत्तिरूप धर्म यज्ञ है और निवृत्तिरूप धर्म तप है। दक्षिणा यज्ञ की भार्या है, उस सहित यज्ञ का यहां निर्देश है इस लिये यज्ञ को प्रवृत्ति धर्मरूप बताया। तात्पर्य यह है कि जो स्त्री के साथ रहता है वह प्रवृतिमार्ग में ही समझा जाता है। [1]वेद, यज्ञ, गो, विप्र और तप ये पांचों जिस के स्वरूप हैं ऐसा विष्णु ही देवताओं का मूल है। प्रकारान्तर से दो ही मूल हैं। मूल बताने वाले वाक्य से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण और गायें ये दो मुख्य रूप से मूल हैं, अर्थात् दुहाती हुई गायें और यज्ञ करने वाले तपस्वी वेद वेत्ता ब्राह्मण। यज्ञ के लिये घृत एवं दुग्ध गायों से मिलता है और यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण मन्त्र बोलनेवाले होते हैं, इन दोनों से यज्ञ सम्पन्न होता है। तपस्वी वेदवेत्ता ब्राह्मण निवृत्तिमार्गीय धर्म के चलानेवाले हैं ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी = नेषां खननमाह ।

अर्थ = ब्राह्मण एवं गायों के उन्मूलन के लिये कहते हैं: —

श्लोक- तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्चहन्मो हविर्दुघाः ॥ ४१ ॥

अर्थ = इसलिये अपने से दूसरों से साक्षात् एव परम्परया जैसे भी लौकिक वैदिक साधन न कर सकें वैसे हम वेद एवं वेदार्थ जाननेवाले, तपस्वी तथा जिनका यज्ञ करने का स्वभाव है ऐसे ब्राह्मणों को और हविष्य देनेवाली गायों को मारेंगे ॥४१ ॥

श्रीसुबोधिनी = तस्मादिति, सर्वात्मना लौकिकवैदिकसाधनैः स्वतः परतः साक्षात् परंपरया च यथैव ते निवृत्ता भवन्ति, ब्राह्मणानां विशेषणं ब्रह्मवादिनो वेदवेदार्थविदः, उभयविधं च कुर्वन्तीति, तपस्विनो यज्ञशीलाश्च, हविर्दुघाः पयोदोग्ध्र्यो गाः, हन्धातोर्लटि बहुवचनं हन्म इति ॥ ४१ ॥

---

[1]. "पञ्चात्मको वा मूलत्वेन निरुपितः" इस सुबोधिनी पर श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि वेद, यज्ञ, गो, विप्र और तप रूप विष्णु ही देवताओं का मूल है ।

व्याख्यार्थ = जिस प्रकार लौकिक एवं वैदिक साधनों से वे स्वयं हटे अथवा दूसरों के द्वारा हटाये जाय ऐसा उपाय साक्षात् हम करें अथवा दूसरों से करावें और ऐसे ब्राह्मणों को मारें जो वेद तथा कर्म एवं ज्ञान रूप जो वेद के अर्थ हैं उनको जानने वाले हों अर्थात् जो कर्म एवं ज्ञान में निरत, तपस्वी, यज्ञ करने के स्वभाव वाले ब्राह्मण हों और गायें भी वैसी हो जो हवि के लिये दुही जाती हो उन सबको हम मारेंगे। श्लोक में "हन्मः" पद में जो वर्त्तमान काल में लट् है वह 'वर्तमान समीप्ये वर्तमानवद्वा" से किया है। यदि ऐसा यहां नहीं मानते हैं तो "हन्मः" यह प्रयोग हो ही नहीं सकता क्यों कि इस समय मन्त्रणा ही हो रही है, मारना आरंभ नहीं किया गया है अतः "वर्तमाने लट्" सूत्र से यहां लट् नहीं हो सकता। शीघ्रातिशीघ्र मारना बताना है इस लिये भविष्यत् अर्थ में भी वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्र से लट् हो गया ॥ ४१ ॥

श्रीसुबोधिनी = एवं विष्णुमूलत्वेन ब्राह्मणगवां निराकरणं निरूप्य भगवच्छरीरत्वेनापि एतान् निरूपयन्ति साक्षान्निराकरणाय।

अर्थ = इस प्रकार विष्णु के मूलभूत ब्राह्मण एवं गायों को मारना चाहिये ऐसा निरूपण कर अब साक्षात् निराकरण करने के लिये ये भगवान् के शरीर हैं ऐसा निरूपण करते हैं।

श्लोकः— विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ॥४२॥

अर्थ = ब्राह्मण, गायें, हविष्य के उपयोगी सभी अन्न, वेद एवं उनके अंग अथवा व्रत, तप, सत्य, इन्द्रियों का दमन, अन्तःकरण का शमन, श्रद्धा, दया, तितिक्षा (अतिक्रमण को सहन करना) तथा ज्योतिष्टोमादि याग ये सब हरि भगवान् के शरीर हैं ॥ ४२ ॥

श्री सुबोधिनी = विप्रा इति, विप्रा गावश्चकारादन्यान्यप्यन्नानि, वेदाः, चकारादङ्गानि व्रतानि वा, तपः सत्यं दमः शाम इति ब्रह्मचर्याद्याश्रमधर्माः, तपः शारीरो धर्मः, सत्यं वाचः, दम इन्द्रियाणां, शमोन्तःकरणस्य, श्रद्धा सर्वत्र, दया च सर्वेषु, तितिक्षातिक्रमसहनं, एवं दशविधो दशावतारः, क्रतवोऽ सङ्ख्याता ज्योतिश्टोमादयः, एते सर्वे सर्वदुःखहर्तुर्भगवतस्तनूस्तन्वः, तस्माद्विष्णौ प्रयत्नः प्रतिष्ठितः ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ = ब्राह्मण, गायें, श्लोक में आये चकार से दूसरे २ हविष्य के साधन सभी अन्न, वेद तथा श्लोक में आये दूसरे चकार से लिये गये वेदों के अंग अथवा व्रत; अहां श्लोक में आये "तपः सत्यं दमः शमः" पदों से क्रम से ब्रह्मचर्यादि आश्रमधर्म लिये गये हैं। तप शरीर का धर्म है, सत्य

वाणी का, दम इन्द्रियों का, शम अन्तःकरण का धर्म है, सब में श्रद्धा, सब प्राणियों में दया, अतिक्रमण सहन करना ये दश धर्म भगवान् के दश अवताररूप हैं, ज्योतिष्टोमादि याग अनन्त हैं। ये सब संपूर्ण दुःख हरण करने वाले हरि भगवान् के शरीर हैं। अतः इन सब का आत्मा विष्णु है। इस से उसके प्रयत्न से ही ये काम करते हैं। जैसे शरीर में जीव के रहते चेष्टा होती है वैसे ही ब्राह्मण आदि का संचालन विष्णु से ही होता है क्योंकि ये सब उस के शरीर हैं ॥ ४२ ॥

श्रीसुबोधिनी = उपसंहरंस्तस्य मूलत्वमाह—

अर्थ = इस बात का उपसंहार करते हुए दैत्य भगवान् को ही इन का मूल बताते हैं।

श्लोकः— स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः।
तन्मूला देवताः सर्वाःसेश्वराः सचतुर्मुखाः ॥
अयं हि तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम् ॥ ४३ ॥

अर्थ = वह विष्णु सब देवताओं का अध्यक्ष, दैत्यों का शत्रु, अन्तः करण में गुप्तरूप से रहनेवाला तथा ब्रह्मा महादेव सहित सब देवताओं का मूल है, अतः उस के मारने का उपाय यही है कि ऋषियों को मारना ॥ ४३ ॥

श्रीसुबोधिनी = स हीति "मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय" इति न्यायाद् गौणानां देवानां निराकरणं व्यर्थं पूर्वोक्त न्यायेन सर्वसुराणां विष्णुरेवाध्यक्षः प्रभुः, किञ्चान्ये देवास्तथासुरान् न द्विषन्ति, कदाचित् सहभावोऽपि लक्ष्यते, हरिस्त्वसुरद्विडेव, मारयितुमपि न शक्यते साक्षाद् यतो गुहाशयः, गुप्तेन्तःकरणे वा तिष्ठतीति, अध्यक्षत्वं च न लौकिकप्रभुवत् किन्तु मूलभूतोपीत्याह तन्मूला इति, स्त्रिलिङ्गप्रयोगोवगणनार्थः, महादेवस्य ब्रह्मणश्च स्वतन्त्रतामाशङ्क्याहुः सेश्वराः सचतुर्मुखाइति, अतो विष्णोः प्रतीकारः कर्तव्यः प्रतिकारश्चर्षीणां निराकरणमेवेत्याहायमिति, ऋषिपदेनैव सर्वे धर्मा उक्ताः ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ = जहां प्रधान और अप्रधान बताये जाय वहां प्रधान में कार्य होता है, यही "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः" का आशय है। अतः इस न्याय से गौण (अमुख्य) देवताओं को मारना व्यर्थ है किन्तु इनका अध्यक्ष विष्णु ही है अतः उसे ही मारना चाहिये। एक बात यह भी है कि अन्य देवता विष्णु की तरह द्वेष नहीं करते, वे कभी समुद्र मन्थन आदि कार्यों में हमारे साथ भी रहते हैं परन्तु विष्णु तो हम से द्वेष ही करता रहता है, उसे साक्षात् मार भी नहीं सकते क्यों कि वह गुप्त स्थान

में अथवा "गुहां प्रविष्टौ" के अनुसार गुप्त अन्तःकरण में रहता है [1]। भगवान् लौकिक स्वामी (राजा) की तरह देवताओं का अध्यक्ष ही नहीं है किन्तु उनका मूलभूत भी है। श्लोक में "देवताः" यह स्त्री-लिङ्ग का निर्देश है इससे दैत्य सूचित करते हैं कि देवता स्त्री की तरह नगण्य हैं। महादेव और ब्रह्मा भी स्वतन्त्र नहीं हैं इस बात को "सेश्वराःसचतुर्मुखाः" से कहा है अर्थात् महादेव एवं ब्रह्मा सहित सभी देवों का मूल भगवान् ही है अतः विष्णु का प्रतिकार करना चाहिये। उसके प्रतीकार के लिये ऋषियों का तथा उनसे प्रवर्तित धर्म का निराकरण करना आवश्यक है। यहां ऋषि पद से उनसे उपदिष्ट धर्म भी लिया गया है ॥ ४३ ॥

श्रीसुबोधिनी = एवं तेषां वचनं श्रुत्वा किं कृतवानिति अशङ्क्याह।

अर्थ = इस प्रकार दैत्यों के वचन को सुनकर कंस ने क्या किया सो कहते हैं।

श्लोकः—एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः।
ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोसुरः ॥४४॥

अर्थ = इस प्रकार वह कंस दुष्ट मन्त्रियों से मन्त्रणाकर खराब बुद्धिवाला हो गया और उसने ब्राह्मणों की हिंसा को अपना हित माना क्योंकि वह असुर होने से स्वभाव से दुष्ट था और कालपाश से आवृत भी था ॥ ४४ ॥

श्री सुबोधिनी = एवमिति, नन्वयं क्षत्रियो ब्राह्मणरक्षकः कथं ब्रह्महिंसां हितत्वेन मेने ? तत्राह दुर्मन्त्रिभिरिति, एते दुष्टा मन्त्रिणः, पर्यवसानदोषदर्शनाभावात्, तैः सह सम्यङ् मन्त्रणं कृत्वा दुर्मतिर्जातः बुद्ध्या हि सर्वनिर्णयः, बुद्धिनाशकस्तु दुःसङ्गस्तत्रापि मन्त्रित्वेन गृहीतः, अत एव ब्रह्महिंसां स्वस्य हितत्वेन मेने, ननु दुःसङ्गेपि कथं स्वाभाविको भावोन्यथा जात इति चेत् तत्राहासुरः कालपाशेनावृतश्च, असुरत्वात् स्वभावदुष्टः कालपाशावृत आपद्ग्रस्तः आपदि सर्वं बुद्धिनाशो भवति, तत्रापि कालपाशपदाभ्यां महत्यापदा निरूपिता ॥ ४४ ॥

---

[1] श्रीपुरुषोत्तमजी अपनी प्रकाशाख्य टीका में लिखते हैं— श्री सुबोधिनी में जो "गुप्त" पद आया है इसका अर्थ यह है कि वह सुरक्षित स्थान में रहता है अथवा यों कहिये कि अन्तःकरण में रहनेवाला है इसलिये अत्यन्त समीप है परन्तु जब अन्तःकरण ही अणु है तो उसमें रहनेवाला भगवान् तो अत्यन्त सूक्ष्म है और वह नित्य भी है अतः उसको मारना कठिन है। एक बात यह भी है वह अन्तःकरण में रहता है इसलिये हमारे विचारों को समझ कर अन्तर्हित हो सकता है। अन्तःकरण में रहने वाला तब ही मारा जा सकता है जब अन्तःकरण वाला स्वयं मरे। यदि स्वयं ही मर जाता है तो फिर दूसरे को कैसे मार सकता है इसलिये वह विष्णु मारा नहीं जा सकता।

व्याख्यार्थ = इस प्रकार कुमन्त्रियों से मन्त्रणा कर ब्राह्मणों को मारना उसने अपना हितकर समझा। शङ्का होती है कि वह कंस क्षत्रिय है और क्षत्रिय ब्राह्मणों का रक्षक होता है तो फिर इसने ब्राह्मणों की हिंसा को हित कैसे माना तो कहते हैं कि जिनके साथ कंस ने मन्त्रणा की वे दुष्ट मन्त्री थे क्योंकि उन्हें ऐसा करने पर परिणाम में क्या होगा इसका ज्ञान नहीं था। कस ने उनके साथ मन्त्रणा की इसलिये वह भी दुर्बुद्धिवाला हो गया। बुद्धि से ही सब निर्णय होता है। बुद्धि का नाश करने वाला दु:सङ्ग है ऐसी स्थिति में यदि दुष्टों को ही मन्त्री बनाले तो फिर कहना ही क्या है। अत एव ब्राह्मणों की हिंसा को अपना हितकर माना। यदि कहें कि दु:सङ्ग होने पर भी उसका स्वाभाविक भाव कैसे बदल गया तो कहते हैं कि वह असुर होने से स्वत: स्वभावदुष्ट था और कालपाश से आवृत होने से आपद्ग्रस्त था। आपत्ति में भी जब सपूर्ण बुद्धि का नाश हो जाता है तो कालपाश से वेष्टित होने पर तो महाविपत्ति आता ही है। ऐसी दशा में उसकी बुद्धि के नष्ट होने में क्या आश्चर्य है। यह बात काल एव पाश इन दोनों पदों से कही गई है ॥ ४४ ॥

श्रीसुबोधिनी = एवं बुद्धिभ्रंशे जाते यत्कृतवांस्तदाह =

अथ = इस प्रकार बुद्धि के नष्ट हो जाने पर कंस ने जो कुछ किया उसे कहते हैं।

श्लोक:- सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान्।
कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत् ॥ ४५ ॥

अर्थ = स्वयं पीड़ा देने की इच्छा वाले एवं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन राक्षसों को सत्पुरुषों को पीड़ा देने के लिये दशों दिशाओं में जाने का आदेश देकर वह कंस अपने महल में चला गया ॥ ४५ ॥

श्रीसुबोधिनी = सन्दिश्येति, साधुलोकस्य कदने पीडायां कदनप्रियान् स्वतोपि कदनेच्छून् कदनकरणार्थं तत्तत्साधकनानारूपधारकान् दशदिक्ष्वप्यादिश्य स्वविषयेन्यविषये च कामरूपधराणां सर्वत्रैव सामर्थ्यसंभवात्, दानवानिति, क्रूरान्, राक्षसमात्रे दानव प्रयोग:, स्वगृहमाविशत्, ययोपद्रवे कश्चित् प्रभो: स्थाने गतो दर्शनमेव न प्राप्नुयात्, एतदर्थं गृहे प्रवेशनम् ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ = जो स्वय ही पीडा देना चहते थे और पीडा देने के लिये जो नानारूप धारण कर सकते थे उन्हें सत्पुरुषों को पीडा देने के लिये दशदिशाओं में अर्थात् अपने देश में और दूसरे देशों में कंस ने भेजा। जो इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं उनका सर्वत्र जाने का समर्थ्य होता है इस लिये उन्हें सर्वत्र भेजा। श्लोक में आये "दानव" शब्द का अर्थ क्रूर है। राक्षस मात्र में दानव शब्द का प्रयोग होता है। अर्थात् वह कंस उन क्रूर राक्षसों को जाने का आदेश देकर अपने महल में

चला गया। उस ने अपने महल में इस लिये प्रवेश किया कि यदि कोई इन राक्षसों के उपद्रव से दुःखी हो कर मेरे पास शिकायत करने आवे तो मैं न मिलूं ॥ ४६ ॥

श्रीसुबोधिनी = ते च ततोप्यधिकं कृतवन्त इत्याह ।

अर्थ = उन दैत्यों ने कंस की आज्ञा से भी अधिक कार्य किया, यह कहते हैं !

श्लोकः– ते वै रजः प्रकृतयस्तमसारूढचेतसः ।
सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः ॥ ४६ ॥

अर्थ = निश्चय कर के रजोगुण के स्वभाव वाले और आगन्तुक तमोगुण से व्याप्तचित्त वाले उन दैत्यों ने सत्पुरुषों के साथ द्वेष किया क्योंकि उन की मृत्यु पास ही आगई। जो आसन्नमृत्यु होते हैं उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता ॥ ४६ ॥

श्रीसुबोधिनी = वै निश्चयेन, ते स्वभावत एव रजः प्रकृतयः राजसाः क्रुरा भवन्ति, आगन्तुकेन च पुनंस्तमसारुढं चित्तं येषां, पूर्वसिद्धविवेकनाशार्थं तमः, रजस्तमोभ्यां व्याप्ताः सांत्विकान् द्विषन्त्येव, अतः सतां विद्वेषं विशेषेण द्वेषो यस्मात् तादृशमुपद्रवं धर्मधनादिनाशनमासमन्ताच्चेरुः कृतवन्तः, अनेन तेषां स्वरूपतोन्तः करणनाशाद् धर्मतश्चोपद्रवं कृतवन्त इत्युक्तं भवति, ननुस्वाम्याज्ञातोधिकं किमर्थं कृतवन्तस्तत्राहारादागतमृत्यव इति मृत्युग्रस्तास्तथा कृतवन्तः, विकलो ह्यन्यथा करोत्येव ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ = निश्चय कर के स्वभाव से ही दैत्य रजोगुण की प्रकृतिवाले होते हैं, जो राजस होते हैं वे क्रूर होते हैं। इस पर भी उन के चित में आगन्तुक तमोगुण व्याप्त हो गया। उन में पूव में रहे विवेक को नष्ट करने के लिये तमोगुण प्रविष्ट हो गया। ऐसी स्थिति में जो रजोगुख एवं तमोगुण से व्याप्त हो जाते हैं वे सात्त्विक पुरूषों से द्वेष करते ही हैं। इस कारण से विशेषरूप से जिस से द्वेष हो जाय ऐसे उपद्रव को चारा ओर से करने लगे। इस श्लोक से यह सिद्ध हुआ कि उन दैत्यों के अन्तकरण के स्वरूप का नाश हो गया। अन्तः करण वैकारिक अहङ्कार से पैदा होता है और वह अन्तः करण ज्ञान को पैदा करता है इस लिये अन्तः करण स्वरूपतः सात्त्विक है. उस के उस स्वरूप का नाश रजो गुण से होता है और जब सत्वरूप अन्तः करण रहता है तब उस में ज्ञान रहता है। उन के उस ज्ञान को तमोगुण ने नष्ट कर दिया इस लिये ज्ञानरूप धर्म के नहीं रहने से धर्मतः उसका नाश हो गया। तात्पर्य यह है कि अन्तः करण का स्वरूप जो सात्त्विक था उसे रजोगुण ने नष्ट कर दिया और उस में होने वाले ज्ञान को तमोगुण ने नष्ट कर दिया अतः अन्तः करण के स्वरूप का और उस के धर्म का नाश हो गया अतः दैत्यों ने उपद्रव किया। शङ्का करते हैं कि दैत्यों ने कंस की आज्ञा

से भी अधिक कार्य किस लिये किया तो कहते हैं कि उन की मृत्यु पास ही आ गई अर्थात् वे मरणासन्न थे इस लिये ऐसा अनुचित कार्य किया। जो विकल होता है वह उलटा कार्य करता ही है ॥ ४६ ॥

श्रीसुबोधिनी = माययैवैतत् कारितं सर्वनाशार्थमिति ज्ञापयितुं महदति क्रमणस्य फलमाह।

अर्थ = दैत्यों के सर्वनाश के लिये माया ने ही महान् पुरूषों का अतिक्रमण कराया। इस बात को बताने के लिये महापुरूषों के अतिक्रम से क्या २ फल मिलते हैं यह कहते हैं।

श्लोकः—आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥४७॥

अर्थ = (शुकदेवजी कहते हैं कि) जो लोग महापुरुषों का अनादर करते हैं उन का वह कुकृत्य आयु, लक्ष्मी, यश, धर्म, एवं उस से प्राप्त होने वाले स्वर्गादिलोक, पुत्र आदि जो भी अभीष्ट हैं उन को और अन्य सब कल्याणों को नष्ट कर देता है ॥४७॥

श्रीसुबोधिनी = आयुश्रियमिति, जीवानां षड् उत्तमा गुणाः, तदभावे प्राण्यकृतार्थः स्यात्, तत्र प्रथममायुः, जीवतो हि सर्वं भवति, ततः श्रीः, स्पष्टस्तस्या उपकारः, ततो यशः कीर्तिः, ततोऽन्तरङ्गो धर्मः, तैः साध्या लोकाः स्वर्गादयः, तत्र लोके सर्वा एवाशिषः, चकारादैहिका अपि पुत्रादयः, एवकारेण सर्वेषामेवाशीर्ष्वं प्रदर्शितं, अतो यस्य यदभीष्टं तदेव नाशयतीत्युक्तं भवति, अन्यथा गणिताश्चेत् तस्याभीष्टा न भवेयुस्तदेष्टमेव चेष्टितमिति महदतिक्रमः किं कुर्यात् ? अतो यत्किञ्चिदेवाभीष्टं तदेव हन्ति, लोकसिद्धास्तु गणिताः, अनुक्तसर्वसङ्ग्रहार्थं सर्वाणीति पुंस इति, स्वतन्त्रस्यापि, महतो भगवदीयस्यातिक्रमः उल्लङ्घनं, महत्त्वं भगवत्सम्बन्धादेव, अन्यथाराग्रमात्रस्य कथं महत्त्वं स्यात्, एवं भगवच्चरितसिद्धचर्थं मायाकार्यं निरूपितम् ॥ ४७ ॥

श्लोकः—इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविर-
चितायां दशमस्कन्धविवरणे चतुर्थाध्यायविवरणम् ॥४८॥

व्याख्यार्थ = श्लोक में बताये गये छः गुण जीवों में उत्तम हैं। उन के नहीं रहने पर प्राणी अकृतार्थ रहता है। छः गुणों में पहला आयु है क्यों कि जीवित रहेगा तब ही तो सब कुछ करेगा। वह आयु महान् पुरूषों के अनादर से नष्ट हो जाती है। उस के बाद महान् पुरूषों का अतिक्रमण लक्ष्मी को नष्ट करता है। लक्ष्मी से जो उपकार होता है वह स्पष्ट ही है। तदनन्तर यश, तत्पश्चात् अन्तरङ्ग धर्म और उस से होने वाले स्वर्गादिफल; लोक के सभी वांछनीय और श्लोक में आये चकार से लिये गये पुत्रादि जो ऐहिक फलरूप माने जाते हैं, वे और एवकार से जितने भी जीव को अभीष्ट हैं

वे सब लिये गये हैं अर्थात् जिसको जो भी अभीष्ट है उस सब को महापुरूषां का अतिक्रमण नष्ट कर देता है। यदि ऐसा नहीं कहा जाय तो श्लोक में गिनाये गये यदि किसी का अभीष्ट न हो तो महापुरूषों के अतिक्रमण से उन का कुछ नहीं बिगडेगा। इस लिये यह कहना आवश्यक है कि जिसको जो भी कुछ अभीष्ट है वह सब नष्ट हो जाता है। लोकसिद्ध आयु आदि को तो गिना दिया अब जिन को नहीं गिनाया गया उन के संग्रह के लिये कहते हैं कि "सर्वाणि" अर्थात् सब कुछ कल्याण नष्ट हो जाते हैं। श्लोक में जो "पुंसः" यह आया है उस का तात्पय यह है कि पुरूष स्वतन्त्र होता है, उस के भी उपर्युक्त सभी नष्ट हो जाते हैं। श्लोक में आये "महान्" का अर्थ भगवदीय है अर्थात् जो भगवद्भक्त होता है वह महान् होता है उस का उल्लङ्घन यह सब कुछ करता है। जीव भगवान् के सम्बन्ध से ही महान् बनता है। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो ब्रीहि के अग्रभाग के समान जीव महान् कैसे बन सकता है अतः यह समझना चाहिये कि जीव में महत्ता भगवत्सम्बन्ध से ही आती है। क्योंकि भगवान् महान् हैं इस लिये उस से सम्बन्ध करने वाला जीव महान् बन जाता है। जैसे अग्नि के सम्बन्ध से जल में उष्णता आती है वैसे ही भगवान् के सम्बन्ध से भगवान् की महत्ता जीव में आती है। इस प्रकार सब को दुःख देना रूप जो माया का कार्य हुआ वह अनिरूद्ध द्वारा धर्म रक्षा कराने में कारण हुवा। यदि माया कंस से इतना उद्रव नहीं कराती तो अनिरूद्ध व्यूह का चरित्र जो धर्मरक्षणरूप है वह नहीं होता। इति शम्

चतुर्थाध्याय का अनुवाद समाप्त हुवा।

अनुवादक—आनन्दीलाल शास्त्री नाथद्वारा

चतुर्थ अध्याय

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	रूकता	रुकता
१	१३	निरुपण	निरूपण
१	२२	धम	धर्म
२	४	रुदन	रोदन
२	२०	सत्विक	सात्त्विक
३	५	वन्ध	वन्द
४	११	वमुदेवजी	वसुदेवजी
४	१८	दा	दी
४	२६	विकल	विकलः
५	५	हा	हो
५	११	बुद्धयैव	बुद्ध्यै व
५	१८	स्नुषेय	स्नुषेयं
५	२०	वधु	वधू
६	१५	निरूपण	निरूपण किया है
६	१५	नन्वहं ते ह्यवराज से	नन्वहं ते ह्यवराज से हेतु का निरूपण
६	२१	ज्ञान	ज्ञानं
६	२७	हीनता	दीनता
७	२	हीनता	दीनता
७	५	नहीं ह	नहीं है
७	१५	सता	सती
७	१८	ता	तो
८	१२	यद्यपरोत्पत्यते	यद्यपरोत्पत्स्यते
८	१४	देवका	देवकी
९	१७	शाक	शोक
९	२३	इताना	इतना
९	२५	विनिभस्त्यं	विनिर्भस्त्यं
१०	१३	देवेका	देवकी
१०	२०	शुक्राचार्य	शुकाचार्य
१०	२१	अर्द	अर्थ
१०	२६	वहा	वही
११	४	छोन	छीन
१२	१	हाथ	हाथ से
१२	५	सम्यगुत्पच्योत्यतंन	सम्युउत्पत्यो त्पतनं
१२	२६	देवका	देवकी
१३	४	एक	एवं
१४	११	गदाधरः	गदाधरा
१५	१४	की	की गई
१६	१	करोभि	करोमि
१६	१८	एवमुत्कागतेत्याहः	एवमुत्तवागते-त्याहः
१७	१०	धम	धर्म
१८	१७	लोकोत्तया	लोकोक्त्या
१९	२३	ट्रट्रे	द्धद्रे
२०	१	ह	है
२१	११	कर्तास्माति	कर्तास्मीति
२१	१३	जिघांसत	क्षिघांसन्तं
२२	२३	विरुध, विरूद्ध	विरुद्ध
२२	२६	वेवता	देवता
२३	५	सकना	सकता
२४	७	कम	कर्म
२४	२२	काई	कोई
५	१२	अन्यथात्मात्मानन्त्य	अन्यथात्मानन्त्य
२५	१८	का	को
२६	८	न नष्ट	नष्ट
२३	८	होते हैं	होते हैं परन्तु-इनमें वर्तमान आत्मा न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है ।
२७	४	मनु-योऽह	मनुष्योऽहं
२८	४	संयाग	संयोग
२८	१३	देवदत्तात्य	देवदत्तस्य
२८	१७	ज्ञोको	शोको

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८	१६	होत	होता
२८	२१	वास्तव से	वास्तव में
२८	२६	हात	होता
२६	२६	श्यामोऽह	श्यामोऽहं
३०	८	करिष्यलोति	करिष्यतोति
३०	२०	श्वोक	श्लोक
३३	१६	अपकार्ति	अपकीर्ति
३३	२१	छाने	छोने
३४	१७	वो	को
३४	१७	लक्षण से	लक्षणों से
६४	२०	भाम:स्वस्त्रो	भामस्वस्त्रो:
३५	१	लक्ष्षैक	लक्ष्यैक
३५	६	सौहाद्र	सौहार्द
३५	१३	किञ्चत्	किञ्चित्
३५	२५	एकचचन	एकवचन
३६	६	यह कहते हैं	अब इस बात को कहते हैं
३६	१८	श्वोक	श्लोक
३७	१	वमुदेवजी	वसुदेवजी
३८	१२	वे भगवान् में	वे लोग भगवान् में
४०	१०	नियम ह	नियम है
४०	१२	हाता	होता
४०	१६	उपालभ	उपालम्भ
४०	१६	काई	कोई
४०	२१	अविष्ट	आविष्ट
४१	१६	देवका	देवकी
४२	४	ज्ञानस्यज्ञातत्वात्	ज्ञानस्य जातत्वात्
४२	२८	दोरात्म्य	दौरात्म्य
४३	२०	तदाहाद्योति	तदाहाद्येति
४४	१८	श्लोक	कारिका
४४	२३	किमुधमः	किमुद्यमैः
४४	२६	निरुपण	निरूपण
४५	६	ज्याधोषै	ज्याघोषै
४५	११	विम्यति	बिभ्यति
४६	४	हन्यमानः	हन्यमानाः
४६	१	अन्नि	अग्नि
५०	३	दत्य	दैत्य
५१	७	यथोति	यथेति
५१	१८	शर्वनाश	सर्वनाश
५२	१०	विश्णु	विष्णु
५२	११	देवतोद्शेन	देवतोद्देशेन
५२	१६	और यज्ञ के	और सत्व अथवा यज्ञ के
५२	२३	प्रधमा	प्रथमा
५३	१४	नेषां	तेषां
५४	२१	शाम	शम
५४	२५	अह,	यहां
५५	२	येदशधर्म	श्लोक में शब्दतः कहे गये दशधर्म
५५	३	दू:ख	दु:ख
५६	८	अशङ्क्याह	आशङ्क्याह
५६	१२	मन्त्रि	मन्त्रियों
५६	२३	व्कठिन	कठिन
५७	२	शङ्का	शङ्का
५७	६	सपूर्ण	सम्पूर्ण
५७	१०	आता	आती
५७	२३	चहते	चाहते
५८	१०	क्रुरा	क्रूरा
५८	१६	पूव	पूर्व
५८	१७	रजोगुस्व	रजोगुण
५८	१८	पुरूषों	पुरुषों
५८	१६	चारा	चारों
५८	२०	अन्तकरण	अन्त:करण
५६	४,५	पुरूषों	पुरुषों
५६	१६	उल्लद्धनं	उल्लङ्घनं
५६	२१	पहला	पहली
६०	१	महापुरुषा	महापुरुषों
६०	२	किसी का	किसी को
६०	६	तात्पय	तात्पर्य
६०	७	अथ	अर्थ
६०	८	उल्लङ्धन	उल्लङ्घन

॥ श्री हरिः ॥

दशम स्कन्ध के अध्याय १ से ४ की अनुक्रमणिका

क्र सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१	अग्नेर्यथा दारुवियोग	१	५१	८४
२	अजुष्टग्राम्य विषया	३	३६	६६
३	अथ काल उपावृते		५६	८६
४	अथ सर्वगुणोपेतः	३	१	५
५	अथाहमंशभागेन	२	६	१०
६	अथैनमस्तौदवधार्य	३	१२	३५
७	अथैनमात्मजं वीक्ष्य	३	२३	६६
८	अदृष्ट्वान्यतमं लोके	३	४१	६६
९	अन्यैश्चासुर भूपालैः	२	२	२
१०	अयं त्वसभ्यस्तव	३	२२	६५
११	अर्चिष्यन्ति मनुष्याः	२	१०	१२
१२	अवतीर्य यदोर्वंशे	१	३	३
१३	अस्यतस्ते शरव्रातैः	४	३३	४५
१४	अहोभगिन्यहो भाम	४	१५	१६
१५	आकर्ण्य भर्तृ गदितं	४	३०	४३
१६	आत्मानमिह सञ्जातं	१	६८	६
१७	आपुः श्रियं यशोधर्मं	४	४७	५६
१८	आसीनः संविशांस्तिष्ठ	२	२४	२६
१९	इति घोरतमाद् भावात्	२	२३	२८
२०	इत्यभिष्टूय पुरुषं	२	४२	७१
२१	इत्युक्त्वाऽऽ सिद्धरिः	३	४६	१०७
२२	इत्यादिश्यामरगणान्	१	२६	५३
२३	इत्युक्तः स खलः पापः	१	३५	६३
२४	इति प्रभाष्य तंदेवी	४	१३	१६
२५	उग्रसेनं च पितरं	१	६६	६६
२६	उग्रसेनसुतः कंसः	१	३०	५६
२७	उपगूह्यात्मजामेव	४	७	६
२८	उपसंहर विश्वात्मन्	३	३०	८७
२९	ऋषेर्विनिर्गमे कंसो	१	६५	६७
३०	एकायनोऽ सौ द्विफलः	२	२७	३८
३१	एतत्कंसाय भगवान्	१	६४	६५
३२	एतद्वां दर्शितं रूप	३	४४	१०२
३३	एतदन्यच्च सर्वं	१	१२	२३
३४	एतं निशम्य भृगुनन्दन	१	१४	२६
३५	एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र	४	३१	४३

क्र. सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
३६	एवं दुर्मन्त्रिभिः कसः	४	४४	५६
३७	एवं भवान् बुद्धयनु	३	१७	४८
३८	एवमेतन्महाराज	४	२६	३७
३९	एवं वां तप्यतोर्भद्रे	३	३६	६४
४०	एवं विमृष्य तं पापं	१	५२	८५
४१	एवं स सामभिर्भेदैः	१	४६	७६
४२	ऐषा तवानुजा बाला	१	४५	७६
४३	कथितो वंश विस्तारो	१	१	१
४४	कंस एवं प्रसन्नाभ्य	४	२८	४१
४५	कस्मान्मुकुन्दो भगवान्	१	६	२१
४६	किं दुःसहं नु साधूनाम्	१	५८	६१
४७	किमद्य तस्मिन्करणीय	२	२१	२६
४८	किं मया हतया मन्द	४	१२	१५
४९	किं क्षेम शूरैर्विबुधैः	४	३६	४८
५०	किमिन्द्रेणालय वीर्येण	४	३७	४६
५१	कुमुदा चण्डिका कृष्णा	२	१२	१३
५२	किमुद्यमैः करिष्यन्ति	४	३२	४५
५३	कीर्तिमन्तं प्रथमजं	१	५७	८६
५४	केचित् प्राञ्जलयो भीताः	४	३४	४६
५५	क्षमध्वं मम दोरात्म्यं	४	२३	३२
५६	गच्छ देवी व्रजं भद्रे	२	६½	८
५७	गते मयि युवां लब्धा	३	४०	६८
५८	गर्भे संकर्षणात् तंवै	२	१३	१४
५९	गर्भे प्रणीते देवक्या	२	१५	१५
६०	गिरं समाधौ गगने	१	२१	४४
६१	गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना	१	१८	३६
६२	चतुः शतं पारिबर्हम्	१	३१	६०
६३	जगुः किन्नरगन्धर्वा	३	६	१०
६४	जन्म ते मय्यसौ पापः	३	२६	८६
६५	ज्योतिर्यथै वोदक पा	१	४३	७३
६६	तत्र गत्वा जगन्नाथं	१	२०	४२
६७	ततो जगन्मंगलमच्युत	१	१८	२१
६८	ततश्च शौरिर्भगवत्	३	४७	१०६
६९	ततस्तन्मूल खनने	४	३८	५०
७०	तथेति सुतमादाय	१	६१	६४

क्र सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ट
७१	तथा कथितमाकर्ण्य	४	१४	७१
७२	तथा न ते माधव तावका	२	३३	५०
७३	तदा वां परितुष्टोऽहं	३	३७	६५
७४	तं जुगुप्सितकर्माणं	१	३६	६४
७५	तमद्भुतं बालकमम्बुजे	३	६	१६
७६	तमाह भ्रातरं देवो	४	४	५
७७	तयाहृतप्रत्ययसर्व	३	४८	१११
७८	तयोर्वा पुनरेवाह	३	४२	१०१
७९	तस्यां तु कस्यचिच्छौरिः	१	२६	५८
८०	तस्मान्न कस्यचिद् द्रोह	१	४४	७५
८१	तस्मात्सर्वात्मना राजन्	४	४१	५३
८२	तस्माद् भद्रेस्वतनयान्	४	२१	३०
८३	तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां	४	२६	४१
८४	ताः कृष्णवाहे वसुदेव	३	४६	११२
८५	तां गृहीत्वा चरणयोः	४	८	११
८६	तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाः	२	२०	२४
८७	तृतियेऽस्मिन् भवेऽहन्यौ	३	४३	१००
८८	ते तु तूर्णमुपव्रज्य	४	२	३
८९	ते पिडीता निविविशुः	२	३	३
९०	ते वै रजः प्रकृतयः	४	४६	५८
९१	त्वत्तोऽस्य जन्म स्थिती	३	१६	५६
९२	त्वमस्य लोकस्य विभो	३	२१	६४
९३	त्वमेक मेवास्य	२	२८	४१
९४	त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः	३	३२	६१
९५	त्वय्यम्बुजाक्षाखिल	२	३०	४४
९६	देवक्या जठरे गर्भम्	२	८	१०
९७	दासीनां सुकुमारीणां	१	३२	६०
९८	दिव्य सुगम्बरालेप	४	१०	१४
९९	दिशः प्रसे दुर्गगनं	३	२	७
१००	दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः	२	४१	७०
१०१	दिष्ट्या हरेस्या भवतः	२	३८	६१
१०२	दृष्ट्वा ममत्वं तच्छौरेः	१	५६	६२
१०३	देवकी वसुदेव च	१	६६	६७
१०४	देवक्या शयने न्यस्य	३	५२	११६
१०५	देहे पंचत्वमापन्ने	१	३६	६६
१०६	देहं मानुषमाश्रित्य	१	११	२२

क्र सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ट
१०७	दैवमप्येतं वक्ति	४	१७	२२
१०८	द्रौण्यस्त्र विप्लुष्ट मिदं	१	६	१५
१०९	ना चास्यस्ते भयं सौम्य	१	५४	८७
११०	न ते भवस्येश भवस्य	२	३६	६३
१११	न त्वं विस्मृत शास्त्रास्त्रं	४	३५	४७
११२	न नामरूपे गुणकर्म	२	३६	५७
११३	नद्यः प्रसन्न सलिला	३	३	८
११४	नन्दाद्या ये व्रजे गोपाः	१	६२	६५
११५	नन्दव्रजं शोरिरपेत्य	३	५१	११५
११६	नन्वहं ते ह्यवरजा	८	६	६
११७	नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने	३	२५	७४
११८	नामधेयानि कुर्वन्ति	२	११	१३
११९	निबंन्ध तस्य तं ज्ञात्वा	१	४७	७८
१२०	निवृत्ततर्षैरुपगोयमान	१	४	६
१२१	निशोयेतमउद्भूते	३	८	१४
१२२	नैषाति दुःसहाक्षुन्मां	१	१३	२५
१२३	पथि प्रगहिणं कंसं	१	३४	६२
१२४	पितामहा मे समरे	१	५	११
१२५	पुरैव पुंसावधृतो	१	२२	४६
१२६	प्रतियातु कुमारोऽयं	१	६०	६३
१२७	प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान्	१	४६	८०
१२८	प्रलंबबकचाणूर	२	१	२
१२९	प्रादुरासं वरदाराट्	३	३८	६५
१३०	प्रसार्य वदनांभोजं	१	५३	८६
१३१	बभर्षिरूपाण्यव बोध	२	२६	४२
१३२	बिहवो हिंसिता भ्रातः	४	५	८
१३३	वहिरन्तः पुरः द्वारः	४	१	३
१३४	ब्रह्मा तदुपधार्याथ	१	१६	४१
१३५	ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य	२	२५	२६
१३६	भगवानपि विश्वात्मा भक्ताना	२	१६	१६
१३७	भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा	२	६	७
१३८	भुवि भौमानि भूतानि	४	१६	२४
१३९	भूमिर्द्रप्तनृप व्याज	१	१७	३२
१४०	भ्रातुः समनुतप्तस्य	४	२५	३६
१४१	मघोनि वर्षत्यसकृद्	३	५०	११४
१४२	मत्स्याश्वकच्छपनृसिंह	२	४०	६५

क्रं सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ट
१४३	मर्त्यो मृत्युव्यलिभीतः	३	२७	८०
१४४	मनांस्यासन्प्रसन्नानि	३	५	६
१४५	महार्हवैदूर्य किरीटकुंडल	३	१०	२६
१४६	मातरं पितरं भ्रातृन्	१	६७	६८
१४७	मा शोचतं महाभागौ	४	१८	२३
१४८	मुमुचुर्मुनयो देवाः	३	७	११
१४९	मूलं हि विष्णुर्देवानां	४	४०	५२
१५०	मृत्यूर्जन्मवतां वीर	१	३८	६८
१५१	मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो	१	४८	७६
१५२	मोचया मास निगडान्	४	२४	३५
१५३	य आत्मनो दृश्य गुणेषु	३	१८	५३
१५४	यतो यतो धावति दैव	१	४२	७२
१५५	यथामयोऽङ्गे समुपेक्षित	४	३६	५१
१५६	यथा नैवं विदो भेदः	४	२०	२८
१५७	यथेमे ऽविकृता भावाः	३	१५	४६
१५८	यदोश्च धर्म शीलस्य	१	२	१
१५९	यशोदा नन्द पत्नी च	३	५३	११७
१६०	यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मि	४	२२	३१
१६१	युवां मां पुत्रभावेन	३	४५	१०३
१६२	युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ	३	३३	६२
१६३	येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त	२	३२	४८
१६४	योऽयकालस्तस्य तेऽव्यक्त	३	२६	७७
१६५	राजधानीततः साऽभूत	१	२८	५६
१६६	रुपं यत् तत् प्राहुरव्यक्त	३	२४	६८
१६७	रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो	१	८	२०
१६८	रोहिणी वसुदेवस्य	२	७	९
१६९	वर्ष वातातपहिम	३	३४	६२
१७०	ववौवायुः सुखस्पर्शः	३	४	६
१७१	वसुदेवगृहे साक्षात्	१	२३	४८
१७२	वासुदेव कथा प्रश्नः	१	१६	३०
१७३	वासुदेव कलानन्तः	१	२४	४९
१७४	विदितोऽस्मि भवान्साक्षात्	३	१३	३९
१७५	विपर्ययो वा किं न स्यात्	१	५०	८३
१७६	विप्रा गावश्च वेदाश्च	४	४२	५४
१७७	विष्णोर्माया भगवती	१	२५	५२
१७८	विश्वं यदेतत्स्वतनौ	३	३१	८८

क्रं सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ट
१७९	वीर्याणि तस्याखिल	१	७	१७
१८०	व्रजंस्तिष्ठन् पदै	१	४०	७०
१८१	व्रजे वसन् किमकरोत्	१	१०	२२
१८२	शंखतूर्यमृदङ्गानि	१	३३	६१
१८३	शीर्णपर्णा निलाहारा	३	३५	६३
१८४	शूरसेनो यदुपतिः	१	२७	५४
१८५	शृण्वन् गृणन् संस्मर	२	३७	५६
१८६	शोकहर्षभयद्वेष	४	२७	३८
१८७	श्लाघनीयगुणःशूरैः	१	३७	६५
१८८	स एव स्वप्नकृत्येदं	३	१४	४३
१८९	स एष जीवन्खलुसंपरेतो	२	२२	३७
१९०	सत्वं न चेद् धातरिदं	२	३५	५४
१९१	सत्वं घोरादुग्रसेनात्मजा	३	२८	८३
१९२	सत्वं त्रिलोका स्थितये	३	२०	६३
१९३	सत्वं विशुद्धं श्रयते	२	३४	५२
१९४	सत्वंह त्यक्त कारुण्यः	४	१६	२०
१९५	स तत्पात्तूर्णं मुत्थाय	४	३	४
१९६	सत्यव्रतं सत्य परं	२	२६	३०
१९७	सन्दिष्टैवं भगवता	२	१४	१५
१९८	सन्निपत्यं समुत्पाद्य	३	१६	४७
१९९	सन्दिश्य साधुलोकस्य	४	४५	५७
२००	सप्तमो वैष्णवं धाम	२	५	४
२०१	स बिभ्रत् पौरुषंधाम	२	१७	२०
२०२	सम्यग्व्यवस्थिता बुद्धिः	१	१५	२९
२०३	सर्वे वै देवता प्रायाः	१	६३	६५
२०४	स विस्मयोत्फुल्लविलो	३	११	३३
२०५	स हि सर्वसुराध्यक्षो	४	४३	५५
२०६	सा तद्धस्तात् समुत्पत्य	४	९	११
२०६	सा देवकी सर्वजगन्निवास	२	१९	२३
२०८	सिद्धचारणगन्धर्वैः	४	११	१४
२०९	सुहृद्वधान्निववृते	१	५५	८८
२१०	स्वप्ने यथा पश्यति	१	४१	७१
२११	स्वयं समुतीर्यं सुदुस्तरं	२	३१	४६
२१२	हतेषु षट्सु बालेषु	२	४	४

॥ राग विहाग ॥

केते दिन हरि सुमरन बिन खोये ।
परनिंदा रसनाके रस में अपने पितर बिगोये ॥ १ ॥
तेल लगाय कर्यो रुचि मर्दन मल मल वस्त्र धोये ।
तिलक लगाय चले स्वामी ह्वै युवतिनके मुख जोये ॥ २ ॥
काल बली ते सब जग कंपत ब्रह्मादिक से रोये ।
सूर अधमकी होय कौन गति, उदर भरे अरु सोये ॥ ३ ॥

॥ राग सोरठ ॥

सुवा वा बन को रस लोजे ।
जा बन कृष्ण नाम अमृत रस श्रवण पात्र भर पीजे ॥
को तेरो पुत्र पिता तू काको, मिथ्या भ्रम जग केरो ।
काल मज्जार ले जहि तोकूं, तू कहे मेरो मेरो ॥
हरि नाना रस मुक्त छेत्र, चल तोकों देखराऊं ।
सूरदास साधुन को संगत, बड़े भाग जो पाऊँ ॥

॥ राग विहाग ॥

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो ।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन
सब जगमाँझ अंधेरो ॥ भरोसो० ॥ १ ॥
साधन और नहीं या कलिमें
जासों होत निवेरो ।
सूर कहा कहे द्विविध आंधरो
बिना मोल को चेरो ॥ भरोसो० ॥ २ ॥

❀ आजीवन सदस्य ❀

प.भ. श्री हीरालालजी ठाडा अजमेर
,, ,, श्री प्रेमचन्दजी ठाडा ,,
,, ,, गोपालदासजी झालानी इन्दौर
,, ,, रणछोड़दासजी मूंधड़ा कलकत्ता
,, ,, उमादेवजी कर्वा ,,
,, ,, जमुनादासजी मोहता कोटा
,, ,, मुकन्ददासजी तापड़िया जोधपुर
,, ,, नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) ,,
,, ,, श्रीनाथजी पुरोहित ,,
,, ,, रामनारायणजी कल्ला ,,
,, ,, पुरुषोत्तमदासजी वर्मा ,,
,, ,, श्यामलालजी शर्मा ,,
,, ,, श्रीनाथजी वोड़ा ,,
,, ,, रतनकौरजी श्रीरामजी पुरोहित ,,
,, ,, कृष्णा वाई पुरोहित ,,
,, ,, श्याम प्रिया बाई पुरोहित ,,
,, ,, वल्लभप्रिया बाई ,, ,,
,, ,, सुशीला बाई ,, ,,
,, ,, चांदकौर बाई ,,
,, ,, देवकौर बाई ,,
,, ,, स्वरूप कौर बाई ,,
,, ,, लक्ष्मी बाई ,,
,, ,, इन्द्रकौर वाई ,,
,, ,, ओंकारलालजी वर्मा ,,
,, ,, देवकीनन्दनजी वर्मा ,,
,, ,, नारायणदासजी अरोड़ा ,,
,, ,, रणछोड़दासजी ,, ,,
,, ,, रूपरामजी ,, ,,
,, ,, लक्ष्मीनारायणजी कल्ला मंगलियावास वाले ,,

प.भ. श्री गुलाबचन्दजी बोहरा जोधपुर
,, ,, लक्ष्मीनारायणजी देवड़ा ,,
,, ,, दौलतरामजी खतरी ,,
,, ,, सरदारमलजी व्यास ,,
,, ,, मोहनलालजी मोदी ,,
,, ,, जेठमलजी बोहरा ,,
,, ,, किशनगोपालजी जैसलमेरिया ,,
,, ,, शिवदासजी व्यास परबतसरवाले ,,
,, ,, गणेशदासजी चन्द्रप्रकाशजी देहली
,, ,, व्रजमोहनजी संतोष कुमारजी ,,
,, ,, दिलसुखरायजी राठी ,,
,, ,, हरिचन्दजी मेहता एडवोकेट ,,
,, ,, अमरनाथजी एम. ए. शास्त्री ,,
,, ,, ज्ञानदेवीजी ,,
,, ,, विद्यावतीजी भाटिया ,,
,, ,, व्रजरानीजी वर्मन् ,,
,, ,, धर्मोदेवीजी पोखरदासजी डांग ,,
,, ,, शान्ति देवीजी नागपाल ,,
,, ,, कमला देवीजी ,,
,, ,, पुरुषोत्तमदासजी मगन भाई पटेल बंबई
,, ,, ठाकुर साहिब बहादुरसिंहजी कुंवर चन्दनसिंहजी, बाघावास (सोजत)
,, ,, गोपेशशरणजी शर्मा एम. ए., भरतपुर
,, ,, राजरानीजी अरोड़ा ,,
,, ,, कन्हैयालालजी भँवर रायगढ़
,, ,, राधेश्यामजी रस्तोगी एम. ए. एल. एल. बी. लखनऊ
,, ,, कन्हैयालालजी रस्तोगी ,,
,, ,, रामनारायणजी मोहनलालजी भाटी, लाडनू

—❀—

मुख्य संरक्षक:—

तिलकायत गो० श्री गोविन्दलालजी महाराज		नाथद्वारा
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी	,,	सूरत
,, ,, व्रजभूषणलालजी	,,	कांकरोली
,, ,, दीक्षितजी	,,	बम्बई
,, ,, पुरुषोत्तमलालजी	,,	कोटा
,, ,, गौविन्दरायजी	,,	पोरबन्दर
,, ,, रणछोड़ाचार्यजी	,,	जतीपुरा
,, ,, व्रजरायजी	,,	राजनगर (अहमदाबाद)
,, ,, घनश्यामलालजी	,,	कामबन
,, ,, रघुनाथलालजी	,,	गोकुल
,, ,, व्रजभूषणलालजी	,, अध्यक्ष	चोपासनी (जोधपुर)-जामनगर

सम्मानित सदस्य:—

श्रीमान् मोहनलालजी सुखाड़िया, मुख्य मंत्री (चीफ मिनिस्टर) राजस्थान, जयपुर

,, डी. एस. दवे, मुख्य न्यायमूर्ति (चीफ जस्टिस) राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर.

,, रामनिवासजी मिर्धा, विधान सभाध्यक्ष (स्पीकर) राजस्थान, जयपुर.

,, डाक्टर गोविन्ददासजी पद्मभूषण, मेंबर पार्लियामेन्ट, नई दिल्ली.

श्रीमती सुमति बेन मुरारजी-पामवन गांधी ग्राम जुहू, बम्बई.

श्रीमान् लक्ष्मीनारायणजी छँगानी, न्यायमूर्ति-राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर.

श्रीमती चन्द्रकान्ता आर. भट्ट, एम. ए., सुरेन्द्र निवास विले पार्ले, बम्बई.

श्रीमान् नथराजजी कल्ला, एडवोकेट राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर.

विशिष्ट आजीवन सदस्य:—

परम भगवदीय श्री नन्दलालजी मानधना, मानधना भवन, जोधपुर-सेवा			रु० ५०००)००
परम भगवदीया गोलोकवासिनी श्री सौभाग्यवतीजी मानधना		,, ,,	रु० ५०००)००
परम भगवदीय गोलोकवासी श्री जमुनादासजी मूंधड़ा	बीकानेर	,,	रु० २५००)००
,, ,, श्री गिरधरदासजी मूंधड़ा श्री भवन,		,, ,,	रु० २५००)००
,, ,, श्री भगवानदासजी अग्रवाल, टेगोर कासल	कलकत्ता	,,	रु० १००१)००
,, ,, श्री ईश्वरलालजी चिम्मनलालजी, रेस कोर्स पास, बड़ोदा		,,	रु० १००१)००

निष्काम कार्यकर्त्ता:—

प.भ. पो. श्री कण्ठमणिजी शास्त्री, कांकरोली, उपाध्यक्ष-सम्पादक उपमण्डल.

,, ,, श्री नरनारायणजी आमोपा एम. ए., साहित्यालङ्कार,-उपाध्यक्ष, व्यवस्थापक उपमण्डल.

,, ,, श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) बी. ए., प्रभाकर, प्रधान मंत्री.

,, ,, श्री श्यामलालजी शर्मा, एम. काम., संयुक्त मंत्री.

मुद्रक : हिन्द प्रेस, त्रिपोलिया बाजार, जोधपुर ।